कल्याण का सुगम साधन



स्वामी रामसुखदास

श्रीहरिः

कल्याणका सुगम साधन



स्वामी रामसुखदास

प्रकाशक—शिवरतन कन्दोई; पी—१५ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता—७

पुस्तक-प्राप्तिके स्थान :—

१. शिवरतन कन्दोई
पी—१५ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता—७०

२. श्री आनन्द आश्रम
रानी बाजार, बीकानेर (राजस्थान)

३. जालान क्लौथ कम्पनी
करकेन्द बाजार (धनबाद)

४. मोहनलाल पुरुषोत्तमदास
१८०, महात्मा गाँधी रोड़, कलकत्ता—७

प्रथम संस्करण ५,०००

मूल्य एक रुपया

मुद्रक—महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी—१ (उ० प्र०)

नम्र निवेदन

इस पुस्तकमें संगृहीत चारों लेख 'कल्याण' आध्यात्मिक मासिक पत्रमें समय-समयपर प्रकाशित हो चुके हैं। श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके लेख मानवमात्रके लिये परमोपयोगी हुआ करते हैं। इसीलिये इनको अलग पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है। इनके अनुसार सभी लोग अपने कर्तव्यपथपर सुगमतापूर्वक अग्रसर हो सकते हैं।

विनीत
प्रकाशक

विषय-सूची





विश्वविमोहन श्रीकृष्ण

कल्याणका सुगम साधन–कर्मयोग

मनुष्यमें कर्म करनेकी एक स्वाभाविक रुचि रहती है। कारण यह है कि वह कुछ-न-कुछ पाना चाहता है। अतः कुछ-न-कुछ पानेके उद्देश्यसे यह जन्मसे मृत्युपर्यन्त आसक्तिपूर्वक कर्मोंमें लगा रहता है। कुछ पानेकी आशाके कारण कर्मोंमें उसकी आसक्ति इतनी अधिक रहती है कि जब वृद्धावस्थामें उसकी इन्द्रियाँ कर्म करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, तब भी वह कर्मोंसे असङ्ग नहीं हो पाता। इस प्रकार आसक्तिपूर्वक कर्म करते-करते ही वह कालके मुखमें चला जाता है। ऐसी परिस्थितिमें हठपूर्वक कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा कोई ऐसा उपाय ही सफल हो सकता है, जिसके अन्तर्गत शास्त्रविहित कर्म करते हुए ही कर्मासक्ति मिट जाय और मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो जाय। इस दृष्टिसे मनुष्यके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान ही एक सफल एवं सुगम उपाय है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के वचन हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
.... ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

(११ । २० । ६–७–८)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग (मार्ग) बतलाये हैं–ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्ति-योग । इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणका मार्ग नहीं है । जो अत्यन्त वैराग्यवान् हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जो संसारमें आसक्त हैं, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं । जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं ।'

उपर्युक्त भगवद्वचनोंके अनुसार संसारमें कर्मयोगके अधिकारियोंकी संख्या ही अधिकतम सिद्ध होती है । यहाँ शङ्का होती है कि संसारमें आसक्त मनुष्य (निष्काम-) कर्मयोगके मार्गपर (परमात्माकी तरफ) कैसे चल पायेंगे ? इसका समाधान भगवान्ने—'**नृणां श्रेयो विधित्सया**' इत्यादि पदोंमें कर दिया है । तात्पर्य यह कि सांसारिक भोग और उनके संग्रहमें रुचि रहते हुए भी जो मनुष्य उन (भोगों)से अपनी रुचिको हटाकर अपना कल्याण करना चाहता है, वह कर्मयोगका पालन करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है । यह नियम है कि साधकका अपना कल्याण

करनेका विचार जितना दृढ़ होगा, उतना ही शीघ्र उसका उत्थान होगा।

कर्मयोगका तात्पर्य है–कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त करना। कर्मयोगमें दो शब्द हैं—कर्म और योग। शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको 'कर्म' कहते हैं। इस योगकी व्याख्या भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—(१) समताको योग कहते हैं—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८) और (२) दुःख-संयोगके वियोगको योग कहते हैं—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगं वियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। परमात्मा 'सम' है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९), अतः समतासे परमात्मामें स्थिति होती है, जिसे 'योग' कहते हैं। संसारसे सम्बन्ध ही दुःख-संयोग है। अतः संसार-से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'योग'- (समता या परमात्मा-) की प्राप्ति हो जाती है*। कर्मयोगमें योगका ही महत्त्व है,

---

* पातञ्जलयोगदर्शन समाधिको 'योग' मानता है; पर गीता परमात्माके नित्यसिद्ध सम्बन्धको ही 'योग' मानती है। पातञ्जल-योगदर्शनका 'योग' शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे और गीतोक्त 'योग' शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे निष्पन्न है। मनुष्यका परमात्मासे नित्य सम्बन्ध है, परंतु संसारके साथ माने हुए सम्बन्धके कारण वह उस नित्य सम्बन्धको भूल गया—उससे विमुख हो गया है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद 'ज्ञान'से करनेपर ज्ञानयोग, 'कर्म'से करनेपर कर्मयोग और 'भक्ति' से करनेपर भक्तियोग होता है। इस प्रकार संसारसे

'कर्मका' नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि कर्मबन्धनसे बचनेके लिये 'योग' ही मार्ग है—'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०)।

'कर्म'का सम्बन्ध संसार (जड़ता) से एवं 'योग'का सम्बन्ध स्वयं (चेतन)से होता है। अतः 'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये होता है। कर्मयोगमें कर्म, कर्मसामग्री और कर्मफलके साथ ममता, कामना एवं आसक्तिका सर्वथा त्याग होना आवश्यक है। कामना और आसक्तिका त्याग कर केवल संसारके हितके लिये कर्म करने-पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान् कहते हैं कि यज्ञार्थ कर्म—(केवल दूसरोंके हितके लिये किये गये कर्म)के अतिरिक्त अन्य (अपने लिये किये गये) सभी कर्म बाँधने-वाले होते हैं—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'

(गीता ३। ९)

अब प्रश्न उठता है कि 'कर्म' तो जड़ प्रकृतिसे ही होते हैं, अतः वे भी जड़ हैं, फिर चेतनको कैसे बाँधते हैं ?

समाधान—यद्यपि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है[1]।

सम्बन्धविच्छदपूर्वक परमात्माके नित्यसम्बन्ध अर्थात् 'नित्ययोग' को, जो अनादिकालसे नित्यसिद्ध है, प्राप्त करनेका नाम 'योग' है।

१. प्रकृति किसी भी अवस्थामें कभी अक्रिय नहीं रहती। महाप्रलयकी अवस्थामें भी प्रकृति निरन्तर क्रियाशील रहती है।

स्वयं (चेतनतत्त्व)में कभी कोई क्रिया नहीं होती। हाँ, चेतनके प्रकाशसे ही प्रकृति क्रियाशील होती है। किन्तु भूलसे जब 'स्वयं' (चेतनतत्त्व) प्रकृतिके साथ 'अपनापन'का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब वह प्रकृतिके परवश होकर उसमें होनेवाली क्रियाओंको अपनेमें आरोपित कर लेता है[1] ! इसलिये कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं समाधितकमें भी) क्षणमात्रके लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कारण यह है कि प्रकृतिजनित गुणोंके वशमें होकर सभी मनुष्योंको कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है[2]।

इसीलिये महाप्रलयकी समाप्ति और सृष्टिका आरम्भ होता है। इसी प्रकार निद्रा, समाधि आदिकी अवस्थाओंमें भी क्रियाएँ सूक्ष्मरूपसे निरन्तर होती रहती हैं। उदाहरणार्थ—किसी सोये हुए मनुष्यको समयसे पूर्व ही जगा देनेपर उसे—'मुझे कच्ची नींदमें जगा दिया', यह वाक्य कहते सुना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रावस्थामें भी सूक्ष्मरूपसे नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। जब पूरी नींदके बाद मनुष्य जगता है, तब वह ऐसा नहीं कहता; क्योंकि नींदका पकना पूरा हो गया।

१. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥(गीता३।२७)

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(गीता ३ । ५)

इसीलिये मनुष्योंमें स्वभावसे ही कर्म करनेका एक वेग विद्यमान रहता है। हठपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करने अथवा अपने लिये कर्म करनेपर वह वेग शान्त नहीं होता। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेपर ही वह वेग शान्त हो सकता है। इस दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान करना सभीके लिये आवश्यक एवं सुगम है।

मनुष्य-शरीर कर्मयोनि है; क्योंकि इस शरीरद्वारा किये गये कर्मोंको ही सर्वत्र भोगना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि कर्मोंको सुचारुरूपसे करनेका विवेक भी इसे भगवान्‌की कृपासे मिला है। यद्यपि जीवन-निर्वाहका ज्ञान तो भगवान्‌ने पशु-पक्षियोंको भी दिया है, किंतु उनकी बुद्धिके विकासके अभावमें वह विवेक जाग्रत् नहीं हो पाता जिससे वे कर्तव्यका सम्पादन कर संसारसे मुक्त हो सकें। बुद्धिके विकासके कारण केवल मानव-शरीरमें ही वह अलौकिक विवेक जाग्रत् रहता है जिससे वह अपने कर्तव्यका पालनकर अपना तथा दूसरोंका कल्याण कर सके। किंतु खेद है कि मनुष्य संयोगजन्य सुखप्राप्तिमें (जो कि अन्तमें दुःख देनेवाले हैं) एवं भोग-पदार्थोंके संग्रह करनेमें तथा अनुकूलताकी प्राप्तिमें

---

१. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गीता ३।४)

सुखी एवं प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें दुःखी होनेमें विवेकका दुरुपयोग कर बैठता है। वह यह नहीं समझता कि अनुकूलता तथा प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें सुखी-दुःखी होना तो पशु-पक्षियोंमें भो है, जिनके सामने कर्तव्यका प्रश्न ही नहीं है। अतः मानवको अपनी कहलानेवाली शरीरादि सामग्रीसे तथा उनकी क्रियाओंसे केवल दूसरोंको सुख पहुँचाना—सेवा करना ही विवेकका सदुपयोग है और यही मानवका परम पुरुषार्थ है।

कर्मयोगकी ऐसी विलक्षणता है कि साधक किसी (ज्ञान-योग अथवा भक्तियोगके) मार्गपर क्यों न चले, कर्मयोगकी प्रणाली (अपने लिये कुछ नहीं करना तथा जिसकी सामग्री है उसके लिये करना यह प्रणाली) उसको अपनानी ही पड़ेगी; क्योंकि सभीमें क्रियाशक्ति निरन्तर रहती है। इसीलिये भगवान्ने ज्ञानयोगीके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५, १२। ४) तथा भक्तियोगीके लिये **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३) कहकर दोनोंके लिये दूसरोंके हितार्थ कर्म (निष्काम-कर्म)का होना अनिवार्य बतलाया है।*

* ज्ञानयोगीकी समस्त प्राणियोंके हितके प्रति प्रीति होनेके कारण एवं भक्तियोगीका सभीके प्रति मैत्री एवं करुणाका भाव होनेके कारण उनसे स्वतः ही केवल परहितार्थ ही कर्म होंगे जो कि कर्मयोगकी मुख्य बात है।

निष्कामकर्ममें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं। अतः चाहे कर्मयोग कहो या निष्कामकर्म—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। इसलिये कर्ताका भाव नित्य निरन्तर निष्काम रहना चाहिये।

कर्मयोगीको किसीका भी अहित सहन नहीं होता; क्योंकि जैसे शरीरके प्रत्येक अङ्गका सम्पूर्ण शरीरके साथ अविभाज्य सम्बन्ध है, वैसे ही संसारके एक शरीरका सम्पूर्ण शरीरमें अविभाज्य सम्बन्ध है। जैसे मनुष्य अपने शरीरके प्रत्येक अङ्गके सुख-दुःखमें सुखी और दुःखी होता है, वैसे ही कर्मयोगी प्राणिमात्रके सुख और दुःखमें अपना सुख और दुःख देखता है†। दाँतोंसे जीभ कट जानेपर अपने दाँतोंको तोड़ देनेका भाव किसीमें भी नहीं आता, इसी प्रकार अपना

---

† आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।

(गीता ६। ३२)

हे अर्जुन! जो योगी अपने शरीरकी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

कहलानेवाले शरीरका अनिष्ट करनेवालेका भी (आत्मीयताके कारण) अहित करनेका भाव कर्मयोगीमें कभी नहीं आता।

मनुष्यके पास (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सामर्थ्य, योग्यता, विद्या, धन, भूमि आदि) जितनी भी सामग्री है, वह सब-की-सब उसे समष्टि-संसारसे ही मिली है, उसकी अपनी व्यक्तिगत नहीं है।। प्रत्यक्ष है कि इन मिले हुए पदार्थोंपर हमारा कोई अधिकार नहीं चलता। इन पदार्थोंको हम अपने इच्छानुसार न तो रख सकते हैं, न उनमें कोई मनमाना परिवर्तन ही कर सकते हैं। इन्हें न तो हम अपने साथ लाये हैं, न साथ ले जा सकते हैं। वास्तवमें ये पदार्थ हमें सदुपयोग करने, विशेषतः दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिले हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो उस वस्तुका केवल अपने लिये भोग करता है, उसे भगवान् पापी कहते हुए केवल पापोंको खानेवाला बताते हैं।* इतना ही नहीं, भगवान् ऐसे पुरुषको पापायु कहते हुए उसके जीवनको ही व्यर्थ बतलाते हैं।†

---

* भुञ्जते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

† एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३।१६)

संसारसे प्राप्त शरीरसे हमने अभीतक अपने लिये ही कर्म किये हैं, अपने सुख-भोग और संग्रहके लिये ही उस शरीरका उपयोग किया है। इसलिये संसारका हमपर ऋण है। इस ऋणको उतारनेके लिये हमें केवल संसारके हितके लिये कर्म करने हैं। फलकी कामना रखकर कर्म करनेसे पुराना ऋण तो उतरता नहीं, नया ऋण और उत्पन्न हो जाता है। ऋणसे मुक्त होनेके लिये नया जन्म लेना पड़ता है।‡ दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और निष्कामभावसे कर्म करनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिसे (जन्म-मरणसे छूटनेके लिये) कर्मयोगका पालन करना सभीके लिये आवश्यक है।

कर्मयोगके (मूलसिद्धान्तके) विषयमें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

‡ गतागतं कामकामा लभन्ते (गीता ९। २१)—'भोगोंकी कामना करनेवाले पुरुष बार-बार आवागमन (जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य यह है कि मनुष्यको केवल कर्म करनेका अधिकार है। पुराने कर्मोंके फलस्वरूप मिली हुई सामग्रीपर तथा नये (अभी किये जानेवाले) कर्मोंके फलस्वरूप आगे मिलनेवाली सामग्रीपर भी उसका कोई अधिकार नहीं है। इसलिये मनुष्यको कर्मोंके फलका हेतु भी नहीं बनना चाहिये; और कर्म न करनेमें उसकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये।

हमारे पास कोई सामग्री 'न अपनी है, न अपने लिये है'। यह सामग्री संसारकी और संसारके लिये ही है। मनुष्य भूलसे ही उस सामग्रीको अपनी और अपने लिये मानकर बँधता है और फलकी कामना करके भविष्यमें भी बँधनेकी तैयारी कर लेता है।§ कर्मयोगीकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही

---

§ इसीलिये गीतामें श्रीभगवान्‌ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागकी ओर संकेत किया है। जैसे—'मा फलेषु कदाचन, 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (२।४७); कृपणाः फलहेतवः' (२।४९); 'फलं त्यक्त्वा मनीषिणः' (२।५१); 'न मे कर्मफले स्पृहा' (४।१४); 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् (४।२०); 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' (५।१२); 'अनाश्रितः कर्मफलम् (६।१); 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते' (६।४), 'सर्वकर्मफलत्यागम्' (१२।११); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' (१८।६); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' (१८।९); 'यस्तु कर्मफलत्यागी' (१८।११) इत्यादि।

दूसरोंकी सेवा करनेकी रहती है। अतः भोग और संग्रहमें उसकी आसक्ति स्वतः मिट जाती है। कर्मयोगमें व्यक्तिगत सुखका सर्वथा त्याग होता है। इसलिये भगवान्‌ने कर्मयोगको त्यागके नामसे कहा है, जिसका वर्णन गीतामें १८वें अध्याय-के ४थे श्लोकसे १२वें श्लोकतक किया गया है। अपने व्यक्तिगत सुखकी बात तो दूर रही, कर्मयोगके मार्गपर स्थूलशरीरसे होनेवाली सेवा, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तन, ध्यान आदि और कारण-शरीरसे होनेवाली समाधितकके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके कल्याणके लिये ही करता है, अपने कल्याणके लिये बिल्कुल नहीं।

क्योंकि वह संसार-कल्याणके अतिरिक्त अपना कल्याण नहीं मानता। कर्मयोगिद्वारा जब अपने लिये कुछ भी कर्म न कर केवल समस्त जगत जगत्‌के हित-भावसे किये जाते हैं तो उसका सम्बन्ध भगवान्‌की उस शुद्ध प्रकृतिके साथ जुड़ जाता है, जो सदा प्राणिमात्रके हितमें स्वतः ही लगी हुई है। इस कारण भगवान्‌की कृपासे उस-(कर्मयोगी-)के भी समस्त कर्म स्वतः ही लोकहितार्थ होंगे। इसमें उसे किसी प्रकार श्रम या बाधाका अनुभव नहीं हो सकता।

यद्यपि अपना कल्याण चाहना भी श्रेष्ठ है, पर संसार-का कल्याण चाहना उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ है। वस्तुतः संसारके कल्याणसे अपना कल्याण अलग मानना ही भूल है मनुष्य अपने कल्याणके लिये जो भी कुछ करता है, वह सब संसारद्वारा प्रदत्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके

संगठनसे ही करता है। अतः कर्म संसारकी सामग्रीसे करना और कल्याण अकेले चाहना न्याययुक्त नहीं है। यह बात दूसरी है कि संसारके कल्याणकी चाहनामें अपना कल्याण निश्चितरूपसे स्वतः हो जाता है। अतः उसके कर्म 'क्रिया' कहलाते हैं।

विचार करनेकी बात है कि कर्म और क्रियामें बहुत अन्तर है। कर्ममें कर्तृत्वाभिमान रहता है, अतः उसका फल होता है। क्रियामें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, अतः उसका फल भी नहीं होता। इसे ही कर्ममें अकर्म बताया गया है* कर्मयोगी कर्म करते हुए भी (कामना, ममता, आसक्ति आदि न होनेके कारण) कर्मोंसे स्वाभाविकरूपसे निर्लिप्त रहता है। इसलिये उससे क्रिया होती है, कर्म नहीं होता†—

---

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
(गीता ४। १८)

'जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है।'

† यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(गीता ४। १९)

'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म विना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।'

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥

(गीता ४ । २०)

'जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।'

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

(गीता ४ । २१)

'जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता।'

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

(गीता ४ । २२)

'जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सदा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है, ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम

अतएव उसके अन्तःकरणमें अनुकूलता-प्रतिकूलतासे होनेवाले हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते हैं। यदि अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका उसपर प्रभाव पड़ता है तो वह कर्मयोगी नहीं अपितु कर्मी है। संसारसे किसीभी प्रकारकी आशा (यहाँ-तक कि आत्मकल्याणकी चाहना) रखनेवाला मनुष्य कर्म-योगका अनुष्ठान नहीं कर सकता।

यद्यपि कर्मयोगीको संसारकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, पर संसारको कर्मयोगीकी बहुत आवश्यकता रहती है; क्योंकि आदर्शतः कर्मयोगका पालन करके मनुष्य संसार-मात्रके लिये बहुत उपयोगी हो जाता है। इसके विपरीत अपने स्वार्थके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य न तो संसारके लिये और न अपने लिये ही उपयोगी हो सकता है।

आजकल लोगोंमें प्रायः यह बात प्रचलित है कि मनुष्यके लिये ही यह सब संसार-सुख—भोग बने हैं, अतः इन्हें भोगना चाहिये। यह बिल्कुल गलत बात है। वास्तवमें

रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बंधता।'

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४। २३)

'जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा-के ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

मनुष्य संसारके लिये है, न कि संसार मनुष्यके लिये। चौरासी लाख योनियोंमें जितने जीव हैं, वे सब कर्मफल भोगनेके लिये मानो जेलखानेमें पड़े कैदी हैं। कैदियोंके प्रबन्ध और हितके लिये जैसे अफसर रहता है, वैसे ही मनुष्य संसारके प्रबन्ध और हितके लिये है। प्याऊपर बैठा व्यक्ति यदि यह सोचे कि जल मेरे लिये ही है अथवा अन्नका वितरण करनेवाला यह सोचे कि अन्न मेरे लिये ही है, तो यह कितनी मूर्खताकी बात होगी। ऐसे ही संसार-सुख-भोगोंको अपना और अपने लिये मानना मूर्खता ही है।

लोग ऐसी शङ्का भी किया करते हैं कि भजन-ध्यान करने, दूसरोंकी सेवा करने, परमात्माको प्राप्त करने आदिकी कामना भी तो 'कामना' ही है, फिर सर्वथा निष्काम कैसे हुआ जा सकता है? इसका समाधान यह है कि स्वरूपको जाननेकी कामना, सेवा करनेकी कामना, भगवान्‌के प्रेम-प्राप्तिकी कामना 'कामना' नहीं है। वस्तुतः नाशवान् (असत्)की कामना ही 'कामना' है; अविनाशी (सत्)की कामना 'कामना' नहीं है; क्योंकि वह अपना है। संसारसे प्राप्त वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेकी कामना 'कामना' नहीं है, अपितु 'त्याग' है; क्योंकि विनाशी (असत्) होनेके कारण संसार भी अपना नहीं है और उससे प्राप्त वस्तु भी अपनी नहीं है।

लोग प्रायः कहा करते हैं कि यदि हम किसी प्रकारकी कामना न करें, तो धनादि कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं हो

सकती। अतः कामना किये बिना हमारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? यह बात भी बिल्कुल निराधार है।

इस विषयमें थोड़ा विचार करनेकी आवश्यकता है। कामनापूर्तिमें चार बातोंका होना जरूरी है। अर्थात् वही कामना पूरी करनी चाहिये, (१) जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे हो (जो वर्तमानमें उत्पन्न हुई हो), (२) जिसकी पूर्तिकी साधन-सामग्री वर्तमानमें उपलब्ध हो, (३) जिसकी पूर्तिके बिना जीवित रहना संभव न हो तथा (४) जिसकी पूर्तिसे अपना एवं दूसरोंका किसीका भी अहित नहीं होता हो; जैसे भूख, प्यास आदि वर्तमानमें लगी है, इनकी पूर्तिके लिये वर्तमानमें ही भोजन व जलादि उपलब्ध हैं, भूख-प्यास आदिकी निवृत्तिके बिना जीना संभव नहीं है तथा भूख-प्यास आदिकी निवृत्तिसे अपना एवं दूसरेका अहित नहीं हो रहा है—इस प्रकारकी शरीर-निर्वाहमात्रकी कामनापूर्तिमें कोई बाधा नहीं है, अपितु इन आवश्यक कामनाओंकी पूर्तिसे तो अनावश्यक कामनाओंके त्यागमें बल मिलता है। इनके अतिरिक्त भोगपदार्थोंकी कामनापूर्तिसे बन्धन ही होगा।

वास्तवमें किसी अप्राप्त वस्तु प्राप्ति 'कामना'के कारण नहीं, अपितु प्राप्त वस्तुके सदुपयोग अर्थात् कर्तव्यकर्मके कारण होती है। पहलेके सदुपयोगके कारण वर्तमानमें एवं वर्तमानके सदुपयोगके कारण भविष्यमें अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति अवलम्बित है। सदुपयोगका तात्पर्य है—वर्तमानमें प्राप्त सामग्रीके द्वारा केवल लोक-हितार्थ कर्तव्य-कर्मोंका आचरण। यदि वह सदुपयोग निष्कामभावसे

किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति एवं सकामभावसे किया जाय तो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति हो सकती है।

वास्तवमें सांसारिक पदार्थोंकी कामनाके बाद जब वे पदार्थ हमें मिलते हैं तो उनकी प्राप्तिमें हमें सुख प्रतीत होता है। वह सुख उन पदार्थोंकी प्राप्तिसे नहीं हुआ है। यदि पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुख होता तो उनके मिलनेपर तथा उनके रहनेपर कभी कोई दुःख नहीं होना चाहिये था। और तो और, कम-से-कम जो पदार्थ कामनाके बाद मिला है, उस पदार्थको लेकर तो दुःख होना ही नहीं चाहिये, किंतु फिर भी दुःख होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थ-प्राप्तिके बाद होनेवाला सुख पदार्थप्राप्तिका सुख नहीं है, अपितु कामना-निवृत्तिका सुख है। कारण कि, कामनाओंके के माध्यमसे उन पदार्थों आदि काम्यका मनसे गहरा सम्बन्ध हो जाता है, इसीलिये उनके न मिलनेपर दुःख और अशान्ति होती है। ज्यों ही उन काम्य-पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, त्यों ही उनका मनसे सम्बन्ध हट जाता है; इसीसे शान्ति और सुख होता है। इस सुखमें यद्यपि कामनाका न रहना (निष्कामता) ही है, तथापि भूलवश मनुष्य इसे पदार्थोंकी प्राप्तिसे मिलनेवाला मानकर पुनः नयी-नयी कामनाएँ करने लगता है। इसी कारण वह कामना-निवृत्ति अर्थात् निष्कामताको सुरक्षित नहीं रख पाता। अतएव कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

यदि मनुष्य यह विचार करे कि वास्तवमें सुख तो कामना-निवृत्तिका ही होता है तो फिर उसके जीवनमें कामनाओंका कोई स्थान रह ही नहीं सकता। कामना-निवृत्ति (निष्कामता)में तो मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है, क्योंकि इसमें किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती, जब कि कामनापूर्तिमें तो देश, काल, कर्म, व्यक्ति आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी परतन्त्रताएँ हैं।

सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है, पर कामनाओंका सर्वथा त्याग करनेकी सामर्थ्य सभीमें है। अतः मनुष्य कामनाओंका सर्वथा त्याग कर सकता है*। कामनाओंका सर्वथा त्याग होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है जो कि नित्य प्राप्त है।

धनादि समस्त सांसारिक वस्तुएँ कर्म करनेसे प्राप्त होती हैं। जो वस्तु कर्मके अधीन है, वह कामना करनेसे कैसे प्राप्त हो सकती है ? अतः उसके लिये कामना करना व्यर्थ ही है। इसके अतिरिक्त कामना पूरी हो जानेपर हम उसी अवस्थामें आ जाते हैं, जिसमें कामना उत्पन्न होनेसे पूर्व थे। कामना कभी किसीकी पूरी नहीं होती और कामनाके अनुरूप प्राप्त वस्तु भी सदा रहनेवाली नहीं होती। अतएव कामना करनेसे पराधीनताके सिवा कुछ नहीं मिलता।

---

* प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

(गीता २।५५)

कामनायुक्त प्रत्येक प्रवृत्ति या कर्म बाँधनेवाला होता है। कामनाका नाश हुए बिना शान्तिकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।* कामना करनेसे लाभ तो कुछ नहीं होता, पर हानि किसी प्रकारकी शेष नहीं रहती। मिली हुई वस्तु-(शरीरादि-)को अपना माननेसे कामना उत्पन्न होती है। वास्तवमें कामनाका मनुष्य जीवन- (की सिद्धि-प्राप्ति-)में कोई स्थान नहीं है। कामना-रहित होकर दूसरोंके लिये कर्म करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सफलता है। अतएव गीतामें भगवान् मनुष्यमात्रको निष्कामभाव-पूर्वक परहितार्थ कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

'हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान-बुद्धि होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य कर्मोंको कर। समत्व ही तो योग कहलाता है।' कर्मयोगकी विलक्षण महिमाका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२।४०)

---

* स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (गीता २।७०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; अपितु इस कर्मयोग-रूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु-रूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है†।' यही कारण है कि कर्मयोगको कल्याणका सुगम साधन कहा गया है। इसकी साधना सभी सदा और सर्वत्र आसानीसे कर सकते हैं। अतएव श्रीभगवान्ने कर्मयोगको निश्चित फल प्रदान करनेवाला (गीता ३।२०) स्वतन्त्र साधन (गीता ५।४-५; १३।२४) बताया है।

---

† इसके अतिरिक्त भी गीतामें भगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है; जैसे—'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥' (२।३९); 'दूरेण ह्यवरं कर्मबुद्धियोगाद्धनंजय।' (२।४९); 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।' (२।५०); 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनोषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥' (२।५१); 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।' (४।३१) इत्यादि।

भगवान् विवस्वान्को उपदिष्ट कर्मयोग

कर्मयोगमें दो शब्द हैं—कर्म और योग। कर्मका अर्थ है करना और योगका अर्थ है समता—'समत्वं योग उच्यते*' अर्थात् समतापूर्वक निष्काम भावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोगमें निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग तथा फल और आसक्तिका त्याग करके करके विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत बन तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, पदार्थ धन-सम्पत्ति आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब-का-सब संसारसे, भगवान्से

* गीता २।४८।

अथवा प्रकृतिसे मिला है। अतः 'अपना' और 'अपने लिये' न होकर संसारका एवं संसारके लिये ही है (अथवा भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये अथवा प्रकृतिका एवं प्रकृतिके लिये है)—ऐसा मानते हुए निःस्वार्थभावसे दूसरोंको सुख पहुँचाने (अथवा संसारकी सामग्रीको संसारकी ही सेवा में लगा देने)को ही कर्मयोग कहते हैं।

कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि (संसारकी मूलभूत) प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। अतः प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी प्राणी क्रियारहित कैसे रह सकता है† यद्यपि पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि योनियोंमें भी स्वाभाविक क्रियाएँ होती रहती हैं; परंतु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म करनेकी क्षमता उनमें नहीं है, केवल मनुष्य-योनिमें ही ऐसा ज्ञान सुलभ है। वस्तुतः मनुष्य-शरीरका निर्माण ही कर्मयोगके आचरणके लिये ही हुआ है और इसमें सम्पूर्ण सामग्री केवल कर्म करनेके लिये ही है। जैसा कि सृष्टिके प्रारम्भमें अपनी प्रजाओंको उपदेश देते हुए ब्रह्माजीके शब्दोंमें श्रीभगवान् कहते हैं—

'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्‡।'

(गीता ३।१०)

---

† गीता ३।५।

‡ 'इष्टकामधुक्' का अर्थ है 'कर्तव्यकर्म करनेकी सामग्री प्रदान करनेवाला।' यहाँ यदि इष् धातुसे 'इष्ट' पदकी निष्पत्ति

'तुम यज्ञ (कर्तव्यकर्म)के द्वारा उन्नतिको प्राप्त करो, यह (कर्तव्यकर्म) तुम्हें कर्तव्यकर्म करनेकी सामग्री प्रदान करनेवाला हो।' मनुष्यको प्रत्येक कर्म कर्तव्यबुद्धिसे ही करना चाहिये (गीता १८ । ९) । शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—केवल इस भावसे ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग कर कर्म करनेसे वे कर्म बन्धनकारक नहीं होते ।

कर्मयोगका ठीक-ठीक पालन करनेसे ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है । कर्मयोगका पालन करनेसे अपना ही नहीं, अपितु संसारका भी परम हित होता है । दूसरे

करेंगे तो इसी श्लोकके पहले उपक्रम (३ । ९)से विरोध होगा; क्योंकि उसमें स्पष्ट कहा है कि कर्तव्यके लिये कर्म करनेके अतिरिक्त कर्म करनेसे बन्धन होगा । फिर अपनी बातको ब्रह्माजी-के वचनोंसे पुष्ट करने हेतु यहाँ कर्तव्यकर्म करनेसे 'इच्छित भोग-पदार्थकी प्राप्ति करानेवाला' यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता एवं इसी प्रसङ्गके उपसंहारमें ' भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म-कारणात्' (३ । १३)से भी विरोध होगा । अतएव 'इष्ट' पद देवपूजा-संगतिकरणार्थक 'यज्' धातुसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ है—कर्तव्यकर्मसे भावित । यज् + क्त, 'वचिस्वपि०'-से संप्रसारण, 'व्रश्चभ्रस्ज०'-से 'ज्' को 'ष्' ततः ष्टुत्व—इस प्रकार 'इष्ट' शब्द बना है । इसी प्रकार ३ । १२ में भी इष्ट शब्द 'यज्' धातुसे ही निष्पन्न समझना चाहिये । "काम्यन्त इति कामाः"—इस व्युत्पत्ति-से काम शब्दका अर्थ पदार्थएवं सामग्री है ।

लोग देखें या न देखें, समझें या न समझें, अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे दूसरे लोगोंको कर्तव्यपालनकी प्रेरणा स्वतः मिलती है।

दूसरोंकी सेवामें प्रीतिकी मुख्यता होनेके कारण कर्म-योगमें निःसंदेह भोक्तापनका नाश हो जाता है। इसके साथ ही व्यक्ति तथा पदार्थ आदिसे अपने लिये सुखकी चाह एवं एवं आशा न होनेके कारण एवं व्यक्ति आदिके संगठनसे होनेवाली इन क्रियाओंका भी अपने साथ कोई सम्बन्ध न होनेसे कर्तापनका भी नाश स्वतः हो जाता है। कर्मयोगी क्रिया करते समय ही अपनेको कर्ता मानता है। भोक्तापन और कर्तापन एक दूसरेपर ही अवलम्बित हैं। जब भोक्ता-पन मिट जायगा तो कर्तापनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा और कर्तापन यदि नहीं है तो भोक्तापनका भी कोई आधार नहीं। इन दोनोंमें भी भोक्तापनका त्याग सुगम है।

भोगोंमें रचे-पचे होनेके कारण उनके संयोगजन्य सुखोंमें आसक्तिसे भले ही यह कठिन प्रतीत होता हो, किंतु जो परिवार तथा धन आदिके बीचमें फँसा हुआ भी अपने उद्धारकी इच्छा रखता है, उसके लिये कर्मयोगकी प्रणाली अधिक सुगम है। अतः भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें **'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** (११ । २० । ७) कहा है।

वस्तुतः मानव-शरीर कर्मयोग-पद्धतिसे मोक्षके लिये ही मिला है। चाहे किसी मार्गका साधन क्यों न हो, किंतु उसे कर्मयोगकी प्रणालीको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यद्यपि कल्याण-प्राप्तिके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें दो निष्ठाएँ बतायी हैं—(१) ज्ञानयोग एवं (२) कर्मयोग। इन दोनोंमें ज्ञानकी प्राप्तिके अनेक उपायोंमें शास्त्रीय पद्धतिसे ज्ञानार्जनकी प्रक्रिया भी गीतामें वर्णित है[1]। इस शास्त्रीय पद्धतिसे अर्जित फल-(तत्त्व) ज्ञानकी महिमा श्रीभगवान्‌ने कही है[2], तथापि अन्तमें यह बताया है कि वही तत्त्वज्ञान कर्मयोगकी प्रणालीसे निश्चय ही स्वयं अपने-आप प्राप्त कर लेता है—**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (४। ३८) अर्थात् ज्ञानयोग गुरुपरम्परा (गीता ४। ३४) एवं कर्मयोगके अधीन है और कठिन भी है[3] जब कि कर्म-

---

१. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(गीता ४। ३४)

२. यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
(गीता ४। ३५—३७)

३. संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ५। ६)

योगकी प्रणालीमें गुरुकी अनिवार्यता नहीं है[1], करनेमें सुगम है[2], फल भी शीघ्र प्राप्त होता है[3] तथा कर्मयोगका अनुष्ठान करनेपर वह अवश्य ही 'फलप्राप्तिवाला' हो जाता है—'कालेनात्मनि[4] विन्दति' (४ । ३८)

श्रीभगवान्‌ने सर्वसाक्षी सूर्यको सृष्टिके प्रारम्भमें कर्मयोगका उपदेश इसलिये दिया था कि जैसे सूर्यके प्रकाशमें

---

१. तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(गीता ४ । ३८)

२. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

(गीता ५ । ३)

३. योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ५ । ६)

४. 'कालेन' इस शब्दमें 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २ । ३ । ५)से प्राप्त द्वितीया विभक्तिका प्रतिषेध कर 'अपवर्गे तृतीया' (पा० सू० २ । ३ । ६) इस सूत्रसे फल-प्राप्तिके अर्थमें तृतीय विभक्ति हुई है । यद्यपि उक्त सूत्रके द्वारा कालवाची शब्दोंमें तृतीयाका विधान है; तथा कालातीतके व्यपदेशके लिये तो 'काल' एवं 'नचिर' आदि शब्दोंका ही प्रयोग होता है । अतः 'नचिरेण' (५ । ६) एवं 'कालेन' (४ । ३८)से यह ध्वनित होता है कि कर्मयोगसे शीघ्र तथा अवश्य फलकी प्राप्ति होती है—इसमें संदेह नहीं ।

अनेक कर्म होते हैं; किंतु वे उन कर्मोंसे बँध नहीं सकते; क्योंकि सूर्यके प्रकाशमें भले ही वे कर्म हों; परंतु सूर्यका उन कर्मोंसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं, वैसे ही चेतनकी साक्षी-में सम्पूर्ण कर्म होनेसे वे (कर्म) बन्धनकारक नहीं होते; हाँ, उनसे यदि सुख-चाहका थोड़ा-सा भी सम्बन्ध होगा तो वह अवश्य ही बन्धनकारक हो जायगा। जैसे सूर्यमें कर्मोंका भोक्तापन नहीं है, वैसे ही कर्तापन भी नहीं है। साथ-ही-साथ नियत कर्मका किसी भी अवस्थामें त्याग न करना तथा नियत समयपर कार्यके लिये तत्पर रहना भी सूर्यकी अपनी विलक्षणता है; जैसे—

'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।'

(गीता १३। ३३)

'कर्मयोगीको भी इसी प्रकार अपने नियत कर्मोंको नियत समयपर करनेके लिये तत्पर रहना चाहिये। इसलिये कर्मयोगका वास्तविक अधिकारी सूर्यको जानकर ही श्रीभगवान्‌ने उनको ही सर्वप्रथम कर्मयोगका उपदेश दिया था और उसकी परम्पराका उल्लेख करते हुए इसके विषय-को उत्तम रहस्य कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे[1] प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

---

१. विशेषेण वस्ते आच्छादयति इति विवस्वान्। विपूर्वक 'वस्' धातुसे क्विप् + मतुप् आदि प्रक्रियासे यह शब्द सिद्ध होता है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥
(गीत ४ । १–३)

'मैंने इस अविनाशी योगको विवस्वान् (सूर्य)से कहा था । सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा । हे परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, किंतु उसके बाद वह योग बहु कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया । तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझे कहा है, क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है ।'

सृष्टिमें जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, उसे ही (कर्तव्यका) उपदेश दिया जाता है । उपदेश देनेका तात्पर्य है—कर्तव्यका ज्ञान कराना । सृष्टिकालमें सर्वप्रथम सूर्यकी उत्पत्ति हुई और फिर सूर्यसे समस्त लोक उत्पन्न हुए । हमारे शास्त्रोंमें सूर्यको 'सविता' कहा गया है, जिसका अर्थ है—उत्पन्न करनेवाला ।'

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(मनु० ३ । ७६)

'अग्निमें सम्यक् प्रकारसे समर्पित आहुति सूर्यतक पहुँचती है। सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं।' पाश्चात्य विज्ञान भी सूर्यको सम्पूर्ण सृष्टिका कारण मानता है। सबको उत्पन्न करने-वाले सूर्यको सर्वप्रथम कर्मयोगका उपदेश देनेका अभिप्राय उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टिको परम्परासे कर्मयोग सुलभ करा देना था।

भगवान्‌के द्वारा दिये गये कर्मयोगके उपदेशको सूर्यने पालन किया। फलस्वरूप यह कर्मयोग परम्पराको प्राप्त होकर कई पीढ़ियोंतक चलता रहा। जनक आदि राजाओंने तथा अच्छे-अच्छे सन्त-महात्मा एवं ऋषि-महर्षियोंने इस कर्मयोगका आचरण करके परम सिद्धि प्राप्त की। बहुत काल बीतनेपर जब वह योग लुप्तप्राय हो गया, तब पुनः भगवान्-ने अर्जुनको उसका उपदेश दिया।

सूर्य सम्पूर्ण जगत्‌के नेत्र हैं, उनसे ही सबको ज्ञान प्राप्त होता है एवं उनके उदय होनेपर समस्त प्राणी जाग्रत् हो जाते हैं और अपने-अपने कर्मोंमें लग जाते हैं। सूर्यसे ही मनुष्योंमें कर्तव्यपरायणता आती है। इसी अभिप्रायसे भगवान् सूर्यको सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा कहा गया है—'**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'। अतएव सूर्यको जो उपदेश प्राप्त होगा, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको भी स्वतः प्राप्त हो जायगा। इसीलिये भगवान्‌ने सर्वप्रथम सूर्यको ही उपदेश दिया।

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है। वर्षाके अधिष्ठातृदेवता सूर्य हैं। वे ही अपनी किरणों-से जलका आकर्षण कर उसे वर्षाके रूपमें पृथ्वीपर बरसाते हैं। इसीलिये सम्पूर्ण प्राणियोंका जीवन भगवान् सूर्यपर ही आधृत है। सूर्यके आधारपर ही सम्पूर्ण सृष्टि-चक्र चल रहा है*। सूर्यको उपदेश मिलनेके पश्चात् उनकी कृपासे

---

* महाभारतमें सूर्यके प्रति कहा गया है—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्॥
त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम्।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्॥
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया॥

(वनपर्व ३। ३६—३८)

'सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार हैं।

सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्तद्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं।

आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थभावसे उसका पालन किया जाता है।'

संसारको शिक्षा मिली है। जैसे पृथ्वीसे लिये गये जलको प्राणियोंके हितार्थं सूर्य पुनः पृथ्वीपर ही बरसा देते हैं, वैसे ही राजाओंने भी प्रजासे (कर आदिके रूपमें) लिये गये धनको प्रजाके ही हितमें लगा देनेकी उनसे शिक्षा ग्रहण की† ।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, अन्य लोग भी वैसा ही आचरण करने लगते हैं। अतएव राजा जैसा आचरण करता है, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है—**'यथा राजा तथा प्रजा'**। राजाको भगवान्‌की विभूति कहा गया है—**'नराणां च नराधिपम्'**।‡ राजाओंमें सर्व-प्रथम सूर्यका स्थान हुआ। सूर्य तथा भविष्यमें होनेवाले अन्य राजाओंने उस कर्मयोगका आचरण किया। वे राजा लोग राज्यके भोगमें आसक्त हुए बिना सुचारुरूपसे राज्यका संचालन करते थे। प्रजाके हितमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति

---

† महाराज दिलीपके सन्दर्भमें महाकवि कालिदासने लिखा है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

(रघुवंश १।१८)

'जैसे सूर्य सहस्रगुना बरसानेके लिये ही पृथ्वीके जलका आकर्षण करते हैं, वैसे ही (सूर्यवंशी) राजा भी अपनी प्रजाके हितके लिये ही प्रजासे कर लिया करते थे ।'

‡ गीता १० । २७ ।

रहती थी। कर्मयोगका पालन करनेके कारण राजाओंमें इतना विलक्षण ज्ञान होता था कि बड़े-बड़े ऋषि भी ज्ञान-प्राप्त करनेके लिये उनके पास जाया करते थे। श्रीवेदव्यास-जीके पुत्र शुकदेवजी भी ज्ञानप्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। छान्दोग्योपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें भी आता है कि ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये कई ऋषि एक साथ महाराज अश्वपतिके पास गये थे।

शङ्का—जिसे ज्ञान नहीं होता, उसीको उपदेश दिया जाता है। सूर्य तो स्वयं ज्ञानरूप भगवान् ही हैं; फिर उन्हें उपदेश देनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—जिस प्रकार अर्जुन महान् ज्ञानी नर-ऋषि-के अवतार थे; परंतु लोकसंग्रहके लिये उन्हें भी उपदेश देनेकी आवश्यकता हुई। ठीक उसी प्रकार भगवान्ने सूर्य-को उपदेश दिया, जिसके फलस्वरूप संसारका महान् उपकार हुआ और हो रहा है।

वास्तवमें नारायणके रूपमें उपदेश देना और सूर्यके रूप-में उपदेश ग्रहण करना जगन्नाटयसूत्रधार भगवान्की एक लीला ही समझनी चाहिये, जो कि संसारके हितके लिये बहुत आवश्यक थी।



गीतोक्त सदाचार

श्रीभगवान्‌ने 'शोकसंविग्नमना' एवं 'धर्मसंमूढचेता' अर्जुनको निमित्त बनाकर हमलोगोंको सदाचारयुक्त जीवन बनाने तथा दुर्गुण-दुराचारोंके त्यागनेकी अनेक युक्तियाँ श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलायी हैं। वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्तव्य कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

(गीता ३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं।' वस्तुतः मनुष्यके आचरण-से ही उसकी वास्तविक स्थिति जानी जा सकती है। आचरण दो प्रकारके होते हैं—(१) अच्छे आचरण, जिन्हें सदाचार कहते हैं और (२) बुरे आचरण, जिन्हें दुराचार कहते हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्गुणसे सदाचार प्रकट होता है और सदाचारसे सद्गुण दृढ़ होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण-दुराचारका

भी परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सद्‌गुण-सदाचारके सत् (परमात्मा) होनेसे वे प्रकट होते हैं। 'प्रकट' वही तत्त्व होता है, जो पहलेसे (अदर्शनरूपसे) रहता है। दुर्गुण-दुराचार मूलमें हैं नहीं, वे केवल सांसारिक कामना और अभिमानसे उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण-दुराचार स्वयं मनुष्यने ही उत्पन्न किये हैं। अतः इनको दूर करनेका उत्तरदायित्व भी मनुष्यपर ही है। सद्‌गुण-सदाचार कुसङ्गके प्रभावसे ढक सकते हैं, परंतु नष्ट नहीं हो सकते—जब कि दुर्गुण-दुराचार सत्सङ्गादि सदाचारके पालनसे सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। सर्वथा दुर्गुण-दुराचाररहित सभी हो सकते हैं, किंतु कोई भी व्यक्ति सर्वथा सद्‌गुण-सदाचारसे रहित नहीं हो सकता।

यद्यपि लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मनुष्य सदाचारी होनेपर सद्‌गुणी और दुराचारी होनेपर दुर्गुणी बनता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सद्‌गुणी होनेपर ही व्यक्ति सदाचारी और दुर्गुणी होनेपर ही दुराचारी बनता है। जैसे—दयारूप सद्‌गुणके पश्चात् दानरूप सदाचार प्रकट होता है। इसी प्रकार पहले चोरपने (दुर्गुण)का भाव अहंता (मैं)में उत्पन्न होनेपर व्यक्ति चोरीरूप दुराचार करता है। अतः मनुष्यको सद्‌गुणोंका संग्रह और दुर्गुणोंका त्याग दृढ़तासे करना चाहिये। दृढ़ निश्चय होनेपर दुराचारी-से दुराचारीको भी भगवत्प्राप्तिरूप सदाचारके चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।' वर्तमानमें साधु आचरण न होनेपर भी श्रीभगवान् विशेषरूपसे आज्ञा देते हैं कि 'वह साधु ही मानने योग्य है'; क्योंकि उसने ऐसा पक्का निश्चय कर लिया है कि किसी प्रकारके प्रलोभन अथवा विपत्तिके आनेपर भी अब वह विचलित नहीं किया जा सकता। साधक तभी अपने ध्येय-लक्ष्यसे विचलित होता है, जब वह असत्—संसार और शरीरको 'है' अर्थात् सदा रहनेवाला मान लेता है। असत्की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी भूलसे मनुष्यने उसे सत् मान लिया और भोग-संग्रहकी ओर आकृष्ट हो गया। मनुष्य आजतक उस असत् (संसार)को नहीं पकड़ पाया और न कभी पकड़ पायेगा, फिर भी आश्चर्य है कि धोखेमें आकर वह अपना पतन करता है। अतः असत्—संसार, शरीर, परिवार, रुपये-पैसे, जमीन, मान-बड़ाईसे विमुख होकर (अर्थात् इन्हें अपना मानकर इनसे न सुख लेना और न सुख लेनेकी इच्छा ही रखनी है, ऐसा होकर) इनका यथायोग्य सदुपयोग मात्र करना है

तथा सत्-तत्त्व (परमात्मा)को ही अपना माननां है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार असत् (संसार)की सत्ता नहीं है और सत् तत्त्व (परमात्मा)का अभाव नहीं होता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

जिस वास्तविक तत्त्वका कभी अभाव अथवा नाश नहीं होता, उसका अनुभव हम सबको हो सकता है। हमारा ध्यान उस तत्त्वकी प्राप्तिकी ओर न होनेसे ही वह अप्राप्त-सा हो रहा है। इस सत्-तत्त्वका विवेचन गीतामें श्रीभगवान्‌ने पाँच प्रकारसे किया है—

(१) **सद्भावे** (गीता १७। २६)

(२) **साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।**

(गीता १७। २६)

(३) **प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥**

(गीता १७। २६)

(४) **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।**

(गीता १७। २७)

(५) **कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥**

(गीता १७। २७)

यह सत्-तत्त्व ही सद्गुणों और सदाचारका मूल आधार है। अतः उपर्युक्त सत् शब्दका थोड़ा विस्तारसे विचार करें।

(१) **सद्भावे** (गीता १७ । २६)—सद्भाव कहते हैं—परमात्माके अस्तित्व या सदा होनेपनको। प्रायः सभी आस्तिक यह बात तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति-तत्त्व सदासे है और वह अनुत्पन्न है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदल रहा है, उसे 'है' अर्थात् स्थिर कैसे कहा जाय ? यह तो नदीके जलके प्रवाहकी तरह निरन्तर बह रहा है। जो बदलता है, वह 'है' कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको जानते, देखते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी रहेगा नहीं—यह सभीका अनुभव है। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी वह 'है'के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है। ये दोनों बातें परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। 'वह' होता तब तो बदलता नहीं, और बदलता है तो 'है' अर्थात् स्थिर नहीं। इससे सिद्ध होता है कि यह 'होनापन' संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा)का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार भी 'है' दीखता है। परमात्माके होनेपनका भाव दृढ़ होनेपर सदाचारका पालन स्वतः होने लगता है।

'श्रीभगवान् हैं'—ऐसा दृढ़तासे माननेपर न पाप, अन्याय, दुराचार होंगे और न चिन्ता, भय आदि ही। प्रायः लोग परमात्माको मानते हुए भी नहीं मानते अर्थात् निषिद्ध आचरण करते हुए डरते नहीं। ऐसे लोग परमात्मा-को भी मानते हैं और दुराचार भी करते हैं। जो सच्चे

हृदयसे सर्वत्र परमात्माकी सत्ता मानते हैं, उनसे दोष-पाप हो ही कैसे सकते हैं ? परम दयालु, परम सुहृद् परमात्मा सर्वत्र हैं, ऐसा माननेपर न भय होगा और न चिन्ता होगी। भय लगने अथवा चिन्ता होनेपर—'मैंने भगवान्‌को नहीं माना'—इस प्रकार विपरीत धारणा नहीं करनी चाहिये, किंतु भगवान्‌के रहते चिन्ता, भये कैसे आ सकते हैं—ऐसा माने; अर्थात् भगवत्स्मृतिसे भय और चिन्ता आदि दोषोंको हटाना चाहिये। दैवी सम्पत्ति (सदाचार)के छब्बीस लक्षणोंमें प्रथम 'अभय' है (गीता १६ । १)।

(२) **साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते** (गीता १७ । २६)—अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावको साधुभाव कहते हैं। यह परमात्माकी प्राप्तिका हेतु होनेसे परमेश्वरके 'सत्' नामका वाचक हो जाता है। जितने भी श्रेष्ठभाव अपने अन्तःकरणमें दीखें, उन्हें दैव-(भगवान्-)की सम्पत्ति माननेसे अभिमान नहीं होता क्योंकि अच्छापन (सदाचार)के उद्गम-स्थानके आधार परमकृपालु परमात्मा ही हैं। सद्गुण-सदाचारको अपना माननेसे अभिमान हो जाता है कि **'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'** (गीता १६ । १५) मेरे समान दूसरा कौन है ? अभिमान आनेसे श्रेष्ठ भाव—सदाचार भी दुर्गुण-दुराचारका कारण बन जाता है, जो आसुरी सम्पत्ति है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गीता १६ । ४)

'हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।' सद्गुण-सदाचार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हो सकते; क्योंकि जो सद्गुण-सदाचार एक व्यक्तिमें हैं, वे ही दूसरे अनेक व्यक्तियोंमें हो सकते हैं। सद्गुण-सदाचार यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति होते तो एक व्यक्तिविशेषके त्यागी-वैरागी अथवा दानी-ज्ञानी होनेपर दूसरा व्यक्ति वैसा अर्थात् उसके समकक्ष नहीं हो सकता था, किंतु यह नियम नहीं है। अतः श्रेष्ठभावको भगवत्प्रदत्त सार्वजनिक सम्पत्ति मानना चाहिये।

अन्तःकरणमें सद्गुण-सदाचारोंके प्रकट होनेसे अभिमान नहीं आता, किंतु सद्गुण-सदाचारोंमें जो कमी रहती है, उस रिक्त स्थानमें दुर्गुण-दुराचार रहते हैं (भले ही आपको जानकारी न हुई हो), उनसे ही अभिमान उत्पन्न होता है। जैसे सत्य बोलनेका अभिमान तभीतक होता है, जब-तक अन्तःकरणमें असत्यताका कुछ अंश रहता है। तात्पर्य—आंशिक असत्यके रहनेसे ही सत्य बोलनेका अभिमान आता है; अन्यथा सत्यकी पूर्णतामें अभिमान आ ही नहीं सकता। अतः परमात्माकी प्राप्तिके साधन श्रेष्ठभाव-को व्यक्तिगत मानकर अभिमान नहीं करना श्रेष्ठ सदाचार है।

(३) **प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते** (गीता १७। २६)—'तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्'

शब्दका प्रयोग किया जाता है।' क्षमा, दया, पूजा, पाठादि जितने भी शास्त्रविहित शुभ कर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं, किंतु इन प्रशस्त कर्मोंका श्रीभगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं रखनेसे—'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्र-विहित क ; मात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव प्रशंसनीय कर्म तपस्यादि करते हैं, परंतु असद् भाव—दुरुपयोग करनेसे इनका परिणाम विपरीत हो जाता है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १७। १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।' वस्तुतः प्रशंसनीय कर्म वे होते हैं, जो स्वार्थ और अभिमानके त्यागपूर्वक 'सर्व-भूतहिते रताः' भावसे किये जाते हैं। इसी प्रकार जिस पुरुषमें साधुता होती है, वह सत्पुरुष कहलाता है और उसके आचरणोंके साथ सत् शब्द जुड़ जानेसे सदाचार कहलाता है। यह प्रशंसनीय कर्मोंका सत्‌के साथ सम्बन्ध होनेका प्रभाव है। ऐसे प्रशस्त कर्मोंके उपक्रमका भी नाश नहीं होता (गीता २। ४०)। इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-

मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है। श्रीभगवान्‌के लिये प्रशस्त कर्म करनेवाले सदाचारी पुरुषका भी कभी नाश नहीं होता—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६। ४०)

'हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला (कल्याणकारी) कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

(४) **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते—** (गीता १७। २७)। 'तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्'—कही जाती है।' सदाचारमें यज्ञ, दान और तप—ये तीनों प्रधान हैं; किंतु इनका सम्बन्ध श्रीभगवान्‌से होना चाहिये। यदि इन (यज्ञादि)में मनुष्यकी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) हो जाय तो स्वप्नमें भी उसके द्वारा दुराचार नहीं हो सकता अर्थात् स्वयं (अहं) 'मैं'में सदाचारका भाव हो जानेपर किसी प्रकारके कदाचारका प्रभाव नहीं हो सकता। ऐसे दृढ़-निश्चयी सदाचारी पुरुषके विषयमें ही कहा गया है—

निष्पीडितोऽपि मधु ह्युद्गमतीक्षुदण्डः।

'ईखको पेरनेपर भी उसमेंसे मीठा रस ही प्राप्त होता है।' इसी प्रकार सदाचारी पुरुषद्वारा भी प्रत्येक परिस्थिति-में मधुर स्नेह-रस ही प्राप्त होता है, अर्थात् सदाचारमें स्थित पुरुषसे लाभ-ही-लाभ होता है। ऐसे पुरुषकी क्रिया श्रीभगवान्‌के लिये ही होती है।

(५) कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते—

(गीता १७। २७)

'और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चय-पूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।' अपना कल्याण चाहने-वाला निषिद्ध आचरण तो कर ही नहीं सकता। जबतक अपने जाननेमें आनेवाले दुर्गुण-दुराचारका त्याग नहीं करता, तबतक वह चाहे कितनी ज्ञान-ध्यानकी ऊँची-ऊँची बातें बनाता रहे, उसे सत्-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। निषिद्ध और विहित कर्मोंके त्याग-ग्रहणके विषयमें श्रीभगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा ज़ानकर शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।' निषिद्ध आचरणके त्यागके बाद जो भी क्रियाएँ होंगी, वे सब भगवदर्थ होनेपर सत्-आचार

(सदाचार) ही कहलायँगी। भगवदर्थ कर्म करनेवालोंसे एक बड़ी भूल यह होती है कि वे कर्मोंके दो विभाग कर लेते हैं। (१) संसार और शरीरके लिये किये जानेवाले कर्म अपने लिये और (२) पूजा-पाठ, जप-ध्यान, सत्सङ्गादि सात्त्विक कर्म श्रीभगवान्के लिये मानते हैं; जब कि होना यह चाहिये कि—जैसे पतिव्रता घरका काम, शरीरकी क्रिया, पूजा-पाठादि सब कुछ पतिके लिये ही करती है, वैसे ही साधकको भी सब कुछ केवल भगवदर्थ ही करना चाहिये। सुगमतापूर्वक भगवदर्थ कर्म करनेके लिये पाँच बातें—(पञ्चामृत) सदैव याद रखनी चाहिये—(१) मैं भगवान्का हूँ, (२) भगवान्के घर (दरबार)में रहता हूँ, (३) भगवान्के घरका काम करता हूँ, (४) भगवान्का दिया हुआ प्रसाद पाता हूँ और (५) भगवान्के जनों (परिवार) की सेवा करता हूँ। इस प्रकार शास्त्रविहित कर्म करनेपर सदाचार स्वतः पुष्ट होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९। २७)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।' यहाँ यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त **'यत्करोषि'** और **'यदश्नासि'**—ये दो क्रियाएँ

और आयी हैं। तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त हम जो कछ भी शास्त्रविहित कर्म करते हैं और शरीर-निर्वाहके लिये खाना, पीना, सोना आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब श्रीभगवान्‌के अर्पण करनेसे 'सत्' हो जाती हैं। साधारण-से-साधारण स्वाभाविक-व्यावहारिक कर्म भी यदि श्रीभगवान्‌के लिये किया जाय तो वह भी 'सत्' (आचार) हो जाता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८। ४६)

'अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' जैसे—एक व्यक्ति प्राणियोंकी साधारण सेवा केवल भगवान्‌के लिये ही करता है और दूसरा व्यक्ति केवल भगवान्‌के लिये ही जप करता है। यद्यपि स्वरूपसे दो प्रकारकी छोटी-बड़ी क्रियाएँ दीखती हैं, परंतु दोनों (साधकों)का उद्देश्य परमात्मा होनेसे वस्तुतः उनमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है; क्योंकि परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण हैं—वे जैसे जप-क्रियामें हैं, वैसे ही साधारण सेवा-क्रियामें भी हैं।

भगवान् 'सत्'-स्वरूप हैं। अतः उनसे जिस किसीका भी सम्बन्ध होगा, वह सब कुछ 'सत्' हो जायगा। जिस प्रकार अग्निसे सम्बन्ध होनेपर लोहा, लकड़ी, इंट, पत्थर,

कोयला—ये सभी एक-से चमकने लगते हैं, वैसे ही भगवान्के लिये (भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे) किये गये छोटे-बड़े सब-के-सब कर्म 'सत्' हो जाते हैं, अर्थात् सदाचार बन जाते हैं। इसके विपरीत—परमात्माके सम्मुख हुए बिना किसी भी व्यक्तिके लिये अपनी शक्ति-सामर्थ्यके बलपर सदाचारका पालन कर पाना कठिन है; क्योंकि केवल गुणों और आचरणोंका आश्रय रखनेपर प्रलोभन अथवा आपत्तिकालमें पतन (कदाचार) होनेकी आशङ्का रहती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचार-सूत्र[1] यही बतलाया गया

---

१. यद्यपि गीता सर्वशास्त्रमयी है और उसमें सर्वत्र सदाचारकी ही चर्चा है, फिर भी श्रीभगवान्ने कृपाकर इतने छोटे-से ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे कई स्थलोंपर सदाचारी पुरुषके लक्षणोंका विभिन्न रूपोंमें वर्णन किया है, जिनमें निम्नलिखित स्थल प्रमुख हैं—(१) दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकसे ७१वें श्लोकतक स्थितप्रज्ञ-सदाचारीका वर्णन, (२) बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भक्त-सदाचारीका वर्णन, (३) तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक ज्ञानके नामसे सदाचारका वर्णन, (४) चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकसे २५वें श्लोकतक गुणातीत-सदाचारीके लक्षण-आचरण और परमात्म-प्राप्तिके उपायका वर्णन और (५) सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकसे तीसरे श्लोकतक दैवी (भगवान्की) सम्पत्तिरूप सदाचारका वर्णन। ये प्रकरण सदाचारकी ही विभिन्न दृष्टिकोणोंसे व्याख्या करते हैं।

है कि यदि मनुष्यका लक्ष्य (उद्देश्य) केवल सत् (परमात्मा) हो जाय, तो उसके समस्त कर्म भी 'सत्' 'आचार' (अर्थात् सदाचार)–स्वरूप ही हो जायँगे। अतएव सत्स्वरूप एवं सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ओर ही अपनी वृत्ति रखनी चाहिये, फिर सद्गुण, सदाचार स्वतः प्रकट होने लगेंगे।



कृपामयी श्रीमद्भगवद्गीता

जीवात्मा परमात्माका अंश है। इसने परमात्मासे विमुख होकर प्रकृति और उसके कार्य त्रिगुणात्मक संसारसे सम्बन्ध मान लिया है। इसी कारण इसे (सबपर सब समय सामान्य रीतिसे बरसती हुई) भगवत्कृपाका अनुभव नहीं हो पाता। जबतक मनुष्यकी सांसारिक पदार्थोंमें संग्रह और सुख-बुद्धि रहेगी, तबतक भगवद्विमुखताके कारण उसमें भगवत्कृपा-दर्शनका सामर्थ्य ही कैसे आ सकता है? जब कि भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी सर्वत्र परिपूर्ण है, निरन्तर है, सब प्राणियोंपर समानरूपसे है।

जीव भगवान्के सम्मुख हो जाता है, तब उसके समस्त बन्धन कट जाते हैं और आगेकी सारी जिम्मेवारी स्वयं भगवान्की हो जाती है। यही सम्मुखता कृपामय ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताके प्राकट्यका कारण है। अर्जुनद्वारा एक अक्षौहिणी शस्त्रास्त्र-सुसज्जित सेनाको छोड़ अकेले भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया जाना उनकी भगवत्सम्मुखताका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। घटना इस प्रकार है—

महाभारत-युद्धकी तैयारी हो चली थी। भगवान् श्रीकृष्णकी सहायता प्राप्त करनेके लिये दुर्योधन उनके पास पहुँचा। भगवान् विश्राम कर रहे थे। दुर्योधन जाकर उनके सिरहानेकी ओर सिंहासनपर बैठ गया। कुछ समय पश्चात् ही अर्जुन भी वहाँ पहुँचे। उनका उद्देश्य भी भगवान्‌को युद्धमें अपनी ओर सम्मिलित करनेका था। भगवान्‌के विश्राममें विघ्न न डालकर अर्जुन उनके चरण-प्रान्तमें विनयावनत मुद्रामें खड़े हो गये। कुछ समय पश्चात् जब भगवान्‌की निद्रा भङ्ग हुई तो उनकी दृष्टि पहले अर्जुनपर पड़ी और प्रश्न हुआ—'कैसे आये ?' अर्जुनके उत्तर देनेसे पूर्व ही दुर्योधन बोल पड़ा—'पहले मैं आया हूँ, श्रीकृष्ण ! युद्धमें आप हमारे पक्षमें रहिये।' भगवान्‌ने अब दुर्योधनपर दृष्टिपात किया। स्थितिका अनुमान लगाया। दोनों पक्षके वरिष्ठ पुरुष उनको अपनी सेनामें सम्मिलित करनेका निमन्त्रण लेकर आये थे। भगवान् तो राजनीतिके भी पण्डित हैं। उन्होंने व्यवस्था दी—'ठीक है, दुर्योधन ! पहले तुम आये हो, पर मेरी दृष्टि पहले अर्जुनपर पड़ी है; फिर नीतिशास्त्र भी यही कहता है कि जब किसी वस्तुका विभाजन करना हो तो पहला अवसर छोटेको दिया जाय; अतः जो छोटा हो, वही पहले अपनी माँग रखे।' अर्जुन अवस्थामें दुर्योधनसे छोटे थे। इसलिये पहले माँगनेका अवसर उन्हें मिला। श्रीकृष्णने प्रस्ताव रखा—'एक पक्ष तो मुझे ले ले, मैं कोई शस्त्र धारण नहीं करूँगा और दूसरा पक्ष

मेरी एक अक्षौहिणी सेना ले सकता है, जो अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित रहेगी।' दुर्योधन मन-ही-मन एक अक्षौहिणी सेनाकी कामना कर रहा था, पर बड़ा होनेके नाते पहले माँग तो सकता नहीं था। पहले अर्जुनने ही अपना प्रस्ताव रखा—'भगवन् ! मुझे सेना नहीं चाहिये, मैं तो आपको ही चाहता हूँ।' दुर्योधन यह सुनकर प्रसन्न हो गया।

दुर्योधनकी मनचाही हो गयी। उसे एक अक्षौहिणी सेना प्राप्त हुई और अर्जुनको निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्ण मिले। दुर्योधन अब अभिमानसे फूला नहीं समाता था। उसने सर्वत्र ढोल पीटना आरम्भ कर दिया कि 'मैंने आज श्रीकृष्णको ठग लिया।' उधर भगवान्ने एकान्त होते ही अर्जुनको फटकारा—तुम्हें अवसर दिया, फिर भी तुमने सेना नहीं माँगी। मुझे लेकर क्या करोगे ? मैं तो शस्त्र भी नहीं उठाऊँगा।'

अर्जुनने कहा—'मेरा काम शस्त्रोंसे नहीं चलता। मुझे तो आपसे ही काम है; क्योंकि मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह इच्छा थी कि आप मेरे सारथि हों, मेरे रथके घोड़े हाँकें; मेरे जीवनकी बागडोर आपके हाथोंमें हो।' अर्जुनका यह निवेदन ही भगवत्कृपाको स्वीकार करना है।

दुर्योधनने वैभव स्वीकार किया, वह भगवान्से विमुख हो गया और अर्जुनने स्वयंको ही भगवान्को सौंप दिया, इसलिये वे भगवान्के सम्मुख होकर उनकी महती कृपाके प्रियपात्र बन गये।

दस दिन युद्ध हो चुका था। ग्यारहवें दिन संज़यने युद्धभूमिसे आकर धृतराष्ट्रको समाचार दिया कि 'भीष्मजी युद्धमें गिरा दिये गये। वे शर-शय्यापर पड़े हैं।' धृतराष्ट्र यह सुनकर मूर्च्छित हो गये। कुछ समय पश्चात् जब उन्हें चेतना आयी, तब पूछा—'भीष्म कैसे गिरा दिये गये ?'

तब संजयने दस दिनसे चले आ रहे महाभारत-युद्धका वर्णन क्रमशः धृतराष्ट्रको सुनाया है। धृतराष्ट्र और संजय-का संवाद वैशम्पायनजी जनमेजयके प्रति कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका आरम्भ 'अथ'से होता है।

'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा' (१ । २०)

तथा 'इति'से समाप्ति भी द्रष्टव्य है—

'इत्यहं वासुदेवस्य' (१८ । ७४)

श्रीमद्भगवद्गीताका श्रीगणेश भगवान्की असीम कृपाके कारण ही हुआ है। महाभारत-युद्धारम्भसे पूर्व व्यासजीने नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे कहा—'युद्धका होना अवश्यम्भावी है। यदि तुम यहाँ बैठे-बैठे ही संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ।'

धृतराष्ट्रमें कुटुम्बीजनोंका वध देखनेका साहस नहीं था। उसने दिव्य दृष्टिकी प्राप्तिका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, किंतु यह याचना की कि 'मैं युद्धका सारा वृत्तान्त सुनना अवश्य चाहता हूँ।' तब व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की और कहा—'राजन्! संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो यह न जान सके।' इसके बाद

संजयने ही धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके मध्य घटित हुए संवादको अक्षरशः क्रमानुसार सुनाया।

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्का साक्षात् अनुग्रह है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। अर्जुनने न तो भगवान्के समक्ष कोई तात्त्विक विवेचन सुननेकी इच्छा व्यक्त की और न धर्म-सम्बन्धी कोई जिज्ञासा ही की। उन्होंने तो भगवान्से कहा—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥

(१।२२)

'हे कृष्ण! जबतक मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख न लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, (तबतक रथको यहीं खड़ा रखिये)।' इस प्रकार अर्जुन तो युद्धके लिये संनद्ध हैं, अपनेसे युद्ध करनेवाले राजाओंको वे देखना चाहते हैं। ऐसे अर्जुनको भगवद्गीता-का उपदेश करना केवल कृपा नहीं तो और क्या है?

भगवान्ने अर्जुनका रथ उनकी आज्ञासे दोनों सेनाओंके मध्य ले जाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने रथ ऐसे स्थानपर खड़ा किया, जहाँ भीष्म और द्रोण विद्यमान थे। फिर वे बोले—'हे पार्थ! युद्धके लिये आये हुए इन कुरुवंशियोंको देखो—

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥

(१।२५)

यहाँ 'कुरुवंशियों'को देखनेके लिये कहना भी अर्जुनको अपने कौटुम्बिक स्नेहमें बाँधनेकी युक्ति ही है। अन्यथा भगवान् कह सकते थे—'धार्तराष्ट्रान् समानिति'। 'युद्ध-भूमिमें एकत्रित इन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखो।'

रथको भीष्म और द्रोण अर्थात् पितामह और गुरु-जैसे आदरणीय जनोंके सम्मुख खड़ा करना और फिर यह कहना कि 'कुरुवंशियोंको देखो'—भगवान्के विशिष्ट प्रयोजनकी ओर इंगित करता है। वस्तुतः संसारमें दो प्रकारके सम्बन्ध ही मुख्य माने गये हैं—(१) योनि-सम्बन्ध, जिसके अन्तर्गत माता, पिता, पितामह, भाई, मामा, नाना आदि सम्बन्धी आते हैं (२) विद्या-सम्बन्ध अर्थात् आचार्य अथवा गुरुका सम्बन्ध। अर्जुन प्रथमतः इन दोनों सम्बन्धोंको देखकर ही मोहाविष्ट हो युद्ध करनेसे हिचकिचाये—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥

(२।४)

अर्जुन बोले—'हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा; क्योंकि हे अरिसूदन ! ये दोनों ही पूजनीय हैं।'

यदि दुर्योधन या कर्णके सम्मुख रथ खड़ा किया जाता तो निश्चय ही अर्जुनके हृदयमें युद्धोत्साह और शौर्य उत्पन्न होते। पर दोनों आदरणीय जनोंके सामने रथ खड़ा करनेसे अर्जुनको ऐसा प्रतीत हुआ कि इन गुरुजनोंकी हत्या मैं कैसे

कर सकूँगा ? उधर वंशके नाशका दृश्य सामने उपस्थित हो आया। अतः अर्जुनके मनका मोह प्रकट हो गया। इस सुप्त मोहको जाग्रत् करना ही भगवान्की कृपाका उपक्रम था। मोहके कारण उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया। फल-स्वरूप भगवान्ने कृपा करके अर्जुनको निमित्त बनाकर गीतामृतका ऐसा उपदेश किया, जिससे अनन्तकालतक अनन्त मोहाविष्ट जीवोंका कल्याण होता रहेगा।

मोहाविष्ट और विषादयुक्त अर्जुन बोले—'हे कृष्ण ! न तो मुझे विजय चाहिये, न राज्य और न सुख। मैं ऐसा युद्ध नहीं करता। मुझ निःशस्त्रको धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो यह भी मेरे लिये कल्याणकारक होगा।' (१।४६) ऐसा कहकर वे रथके पिछले भागमें शोकाविष्ट होकर बैठ गये।

उस समय उन्हें प्रोत्साहित करनेके लिये भगवान् कुछ तीखे वचन कहते हैं—'हे अर्जुन ! क्लैब्य (कायरता)को छोड़ दो। अरे ! उत्साहित होनेके समय तुममें यह मोह कैसे उत्पन्न हुआ ? हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़े हो जाओ।' (२। २-३)

भगवान्ने यह उद्बोधन केवल कृपा-दृष्टिसे ही किया, अन्यथा वे कह सकते थे—'युद्ध नहीं करना चाहते हो तो न करो। जैसा तुम्हारी समझमें आये, वैसा ही करो।' पर यह बात भगवान्ने अन्तमें कही—'यथेच्छसि तथा कुरु' (१८। ६३)

भगवान्‌के हृदयमें उसी प्रकार करुणा उमड़ रही थी, जैसे बछड़ेको देखते ही गायके स्तनोंमें दूध निकल पड़ता है। वे अर्जुनका कल्याण चाहते हैं। साधारण मनुष्यमात्रकी जैसी मनःस्थिति होती है, वैसी ही मनःस्थितिका ध्यान रखते हुए गीताका उपदेश करना, भगवान्‌की विशिष्ट कृपाका एक विलक्षण उदाहरण है।

गीतामृतरूपा भगवत्कृपाका प्रत्येक अध्यायके अनुसार अवलोकन किया जाय तो कृपापूर्वक भगवान्‌का अर्जुनके सामने अपने-आपको विशेषतासे प्रकट करना और अर्जुनके मनमें क्रमशः भगवान्‌के प्रति विशेष आदर एवं श्रद्धा-भाव-का वढ़ना द्रष्टव्य है। अव इसी दृष्टिसे प्रत्येक अध्यायके कतिपय कृपापरक स्थलोंका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

मोहग्रस्त अर्जुन ज्यों ही अपनेको मोहितचत्त स्वीकार करते हैं और कल्याणकारक साधन पूछते हैं, त्यों ही भगवान् करुणा करके साधारण जनकी भाषामें मुस्कराते हुए उपदेश आरम्भ कर देते हैं।

दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने सत-असत्‌का विवेचन किया, किंतु इस प्रसङ्गमें उन्होंने ब्रह्म, अविद्या, माया, ईश्वर, प्रकृति, जीव, आत्मा, अनात्मा, अधिभूत, अधियज्ञ आदि दार्शनिक शब्दावलिका प्रयोग किया ही नहीं, इस विवेचनमें देह-देही, शरीर-शरीरी, नित्य-नाशवान्-जैसे सामान्य जनकी समझमें आनेवाले शब्दोंका ही प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह कि गीता मनुष्यमात्र

(चाहे वह अपढ़ हो या विद्वान्, मूर्ख हो या बुद्धिमान्)के कल्याणकी दृष्टिसे कही गयी है।

पहले अध्यायके इकतीववें श्लोकमें अर्जुन जहाँ कहते हैं कि **'न च श्रेयोऽनुपश्यामि'**—युद्धमें श्रेय नहीं देख रहा हूँ, वहीं दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'निश्चित श्रेय'के लिये पूछ रहे हैं—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।'** इस प्रसङ्गको देखनेसे यह बात सिद्ध होती है कि अर्जुन मारनेसे डर रहे हैं, मरनेसे नहीं। इसलिये भगवान्‌ने उनके हृदयसे 'मारनेका भय' निकालनेकी भावना और कर्तव्य दृष्टिसे ही कहा—**'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥'** (२ । ३१) अर्थात् क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर कल्याणकारी दूसरा कोई कर्तव्य ही नहीं है। फिर भी अर्जुन अभीतक मोहित हैं और पुनः प्रश्न करते हैं—**'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥'** (३ । २), इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने कृपा कर कर्तव्य-पालनको ही परम कल्याणकारक बताया—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयप्रद है।'

जो अर्जुन मोहासक्तिके कारण अपने कर्तव्यसे च्युत

हो रहे हैं, उन्हें भगवान् सहज धर्मयुक्त कर्तव्यमें आरूढ़ करनेके उद्देश्यसे उपदेश दे रहे हैं। यह उनकी ऐसी कृपा है, जिसकी अर्जुनने कभी वाञ्छा और जिज्ञासा भी न की थी। भगवान्‌का स्वभाव ही अहैतुकी कृपा करना है।

श्रेष्ठ पुरुष अपने हृदयका गोपनीय-से-गोपनीय रहस्य भी अपने कृपाभाजनके सामने प्रकट कर देते हैं। अर्थात् उससे कुछ भी दुराव नहीं रखते। इसी दृष्टिसे भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें कृपापूर्वक कर्तव्यपालनपर बल देते हुए अर्जुनसे कहा—'मेरा तीनों लोकोंमें कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी मैं कर्तव्य निबाहता हूँ। मैं कर्म न करूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि सब मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं अर्थात् यदि मैं शास्त्रोक्त कर्मका आचरण न करूँ तो सब मनुष्य नष्ट हो जायँ[1]।' (इस प्रकार भगवान्‌ने इन श्लोकोंमें कृपापूर्वक यह प्रकट किया है कि मैं तीनों लोकोंका आदर्श पुरुष हूँ।)

इस उपदेशके पश्चात् क्षत्रियोंके कर्मका महत्त्व बतलाते हुए भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें परम्परासे प्राप्त कर्मयोग और

---

१. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(गीता ३। २२–२४)

उसकी अनादिताको सिद्ध किया। तत्पश्चात् अपनेको आदि उपदेष्टा बताकर वे कहते हैं कि मैं वही उपदेश, जो लोपप्राय हो गया था, फिर कहता हूँ। युद्ध-भूमिमें युद्धकी बात न करके इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और निष्काम-कर्मकी बात करना भगवान्‌की केवल विशिष्ट कृपा ही है, अन्य कुछ नहीं।

पाँचवें अध्यायका आरम्भ अर्जुनकी इस जिज्ञासासे होता है कि 'हे कृष्ण! आपने सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा बतलायी (३। ३), परंतु मेरे लिये दोनोंमेंसे कौन-सी निश्चितरूपसे श्रेयस्कर है—यह स्पष्ट बतलाइये।'

ज्ञानयोग और कर्मयोगका विस्तृत विवेचन करते हुए और उन्हें तत्त्व-प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाते हुए अन्तमें भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! मुझे सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् (तत्त्वसे) जान लेनेमात्रसे मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है'—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥'

(५। २९)

'ज्ञात्वा' पदसे भगवान् अर्जुनको मानो आश्वासन देते हैं कि 'तुम क्यों चिन्ता करते हो, केवल मुझे सब भूतोंका अर्थात् अपना भी सुहृद् जान लो, इतने मात्रसे तुम्हारे द्वारा कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—सबका अनुष्ठान स्वयमेव ठीक-ठीक होने लगेगा।'

यह भगवान्‌की कितनी कृपा है! कितना सुगम उपाय है जीवनके चरम-लक्ष्यकी प्राप्तिका!!

अर्जुनकी दृष्टि दोषरहित है, इसीलिये भगवान् उनके बिना पूछे ही विशेष कृपा करके उन्हें ध्यान और भक्तिकी विशेषतासे अवगत कराते हैं और आदेश देते हैं—**'कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन'** (६ । ४६) 'इससे हे अर्जुन ! तुम योगी बनो; क्योंकि कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है ।'

छठे अध्यायके तीसवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने कृपा करके यह विलक्षण सत्य उद्घाटित कर दिया कि समस्त जगत्‌में जितने भी रूप हैं, वे सब मेरे ही हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

इसी अध्यायमें अर्जुनने मन-सम्बन्धी प्रश्न भी किया है । उन्हें शङ्का होती है कि योगमें श्रद्धालु पुरुष संयमी न होनेके कारण यदि अन्त समयमें योगसे विचलित हो जाय तो उसकी क्या गति होती है ? कहीं वह उभयभ्रष्ट हो नष्ट तो नहीं हो जाता ?—**'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।'** (६।३८); अर्जुनका यह अडिग विश्वास है कि 'मेरे इस संशयको दूर करनेवाला भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता ।' उत्तरमें भगवान् भी अपना हृदय खोलकर रख देते हैं । अर्जुनको अत्यन्त कृपा करके उन्होंने 'तात' शब्दसे सम्बोधित किया । (यह सम्बोधन समस्त गीतामें एक ही बार आया है ।) भगवान्‌ने आश्वासन देते हुए कहा—**'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।'** (६ ।

४०) 'हे पार्थ ! भगवदर्थ कर्म करनेवाला कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

मनुष्यको वस्तुतः अन्तकालकी गति और उससे त्राण दिलानेवाली उपासना—दो ही प्रश्नोंके विषयमें सर्वाधिक जिज्ञासा रहती है। अकारण-कृपालु भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनको निमित्त बनाकर सर्वसामान्यकी सद्गतिके भावसे गीतामें इन्हीं दो प्रसङ्गोंका[२] सर्वाधिक विवेचन किया है।

सातवें अध्यायको स्वयं भगवान्ने अपनी ओरसे कहना आरम्भ किया है। (६ । ४७में) भक्तोंकी बात आते ही भगवान् मानो मग्न हो गये, ठीक उसी प्रकार जैसे भगवान्‌की बात चलते ही भक्त मग्न हो जाते हैं। इस अध्यायमें भगवान् अपने चारों प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते हुए आर्त और अर्थार्थी भक्तको भी उदार वतलाते हैं (७। १८)। यह उनकी कितनी कृपावत्सलता है! आशय यह प्रतीत होता है कि ये (आर्त, अर्थार्थी आदि) संसारसे हटकर मुझ परमात्माकी ही ओर लग गये—यह इनकी उदारता है।

---

२. छठे अध्यायके सैंतीसवें, अड़तीसवें और उनतालीसवें श्लोकोंमें किये गये प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्ने छठे अध्यायके ८, सातवेंके ३०, आठवेंके २६, नवेंके ३४ और दसवें अध्यायके ११—अर्थात् कुल १०९ श्लोकोंमें अन्तकालीन गतिका ही विस्तृत विवेचन किया।

आठवें अध्यायमें भगवान्‌ने कृपापूर्वक बतलाया कि अन्तकालमें जो कोई मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करता है, वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (८।५), यह कहते हुए भगवान् पुनः इसीको और स्पष्ट करते हुए (८। ६में) कहते हैं कि मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ मरता है, उसी भावके अनुसार उसकी गति होती है अर्थात् स्वर्ग, नरक या अन्य योनिकी प्राप्ति होती है। जिस अन्तकालमें भोगोंका स्मरण करते हुए मरनेवाला मनुष्य शूकर-कूकर या कीट-पतंगकी योनि प्राप्त करता है, उसी अन्त समयमें भगवान्‌को स्मरणकर परमगतिको प्राप्त हो सकता है, चाहे उसका विगत जीवन कैसा ही क्यों न रहा हो। यह न्यायकारी प्रभुका कैसा कृपा-पूर्ण संविधान है! प्रभुके इस विधानमें न्याय और कृपाका विलक्षण साम्य दृष्टिगोचर होता है।

तदनन्तर भगवान्‌ने पुनः स्वयं अपनी ओरसे ही कहा—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(९।१)

कौन ऐसा दयालु होगा, जो बिना पूछे अपने हृदयकी गुह्यतम बात बतायेगा? यही नहीं, भगवान्‌ने इस गुह्यतम ज्ञानके आठ विशेषण दिये हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(९।२)

'यह ज्ञान (१) सब विद्याओंका राजा, (२) समस्त गोपनीयोंका भी राजा, (३) अति पवित्र, (४) उत्तम (५) प्रत्यक्ष फलवाला, (६) धर्मयुक्त, (७) साधन करनेको बड़ा सुगम और (८) अविनाशी है ।'

लोकमें भी अपने उपदेशकी प्रशंसा स्वयं करनेमें सज्जन पुरुष कुछ संकोचका अनुभव करते हैं; किंतु भगवान्‌के हृदयमें कृपाका समुद्र उमड़ रहा है और अर्जुन दोषदृष्टिरहित—'अनसूय' हैं, अतः वे अर्जुनको (और उनके निमित्तसे जीवमात्रके हितकी दृष्टिसे) पग-पगपर कल्याणका मार्ग बताते हुए कहते हैं—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥
(१० । १)

'हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्ययुक्त और प्रभावयुक्त वचनोंको सुनो, जो मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके प्रति हितकी इच्छासे कहूँगा ।'

नवें अध्यायका आरम्भ जहाँ भगवान्‌ने 'गुह्यतमम्' शब्दसे किया, वहाँ दसवेंके आरम्भमें 'परमं वचः' कह रहे हैं और वह भी हितकामनाके भावसे। इसका उद्देश्य अर्जुनको भलीभाँति अपने कर्तव्यका भान कराना एवं उनकी शंकाओंको निर्मूल करना है। भगवान् चाहते हैं कि अर्जुनका मोह नष्ट हो जाय, इसीलिये इतना कहनेके पश्चात् भी वे असंतोष अनुभव करते हैं, उनकी तृप्ति नहीं होती; अतः

दूसरे प्रकारसे उसी विषयका प्रतिपादन करते हैं। जीवके कल्याणकी ऐसी उत्कट कामना वे अकारणकरुणार्णव ही कर सकते हैं। वे कहते हैं—'जिस रहस्यको न देवता जानते हैं, न महर्षि, वही अपने लीलासे प्रकट होनेका रहस्य मैं तुम्हें बताता हूँ[3]।

इस प्रकार कहकर भगवान्ने दसवें अध्यायके पाँच श्लोकों-(२–६)में अपनी योग-शक्ति और विभूतियोंका वर्णन किया और सातवें श्लोकमें उनके फलरूप अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतायी। अर्जुनने जब योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये स्तुति और प्रार्थना की [क्योंकि भगवान्का अमृत-वचन सुननेसे उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी (१० । १८)] तब भगवान्ने

३. न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (१० । २)

४. दसवें अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवेंतकके श्लोकोंमें अर्जुनने भगवान्की विभूति जाननेके लिये स्तुति की है और सोलहवेंसे अठारहवेंतक तीन श्लोकोंमें प्रार्थना की है। पंद्रहवें श्लोकमें तो अर्जुनकी श्रद्धा इस सीमातक बढ़ गयी है कि उन्होंने इस एक ही श्लोकमें भगवान्के प्रति पाँच सम्बोधन दे डाले—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

'हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके देव! हे जगत्के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने आपको जानते हैं।'

कृपापूर्वक अपनी इक्यासी विभूतियोंका वर्णन किया। सम्भवतः अर्जुनको भ्रम था कि भगवान्‌की विभूतियाँ इतनी ही हैं अर्थात् सीमित हैं, इसलिये उन्होंने 'अशेषेण' (१०।१६) पदका प्रयोग किया, किंतु भगवान्‌ने कृपापूर्वक यह भी बता दिया कि मैं तो समस्त जगत्‌को अपने एक अंशसे ही व्याप्त करके स्थित हूँ और इसीलिये उन्होंने अपनी विभूतियोंको **'प्राधान्यतः'** (१०।१९) बतलाया। जिसका अन्त ही नहीं है, उसे **'अशेषेण'** (पूर्णतासे) कैसे बताया जा सकता है?—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'

(१०।४२)

उपर्युक्त श्लोक ही ग्यारहवें अध्यायका बीज है। अर्जुनको जिज्ञासा हुई कि वह रूप भी देखूँ, जिसके एक अंशमें ही संपूर्ण जगत् स्थित है। भगवान्‌की अचिन्त्य एवं अनंत विभूति एवं ऐश्वर्यको सुनकर अर्जुनको अपनी भूल तब समझमें आयी, जब १०।४२में भगवान्‌ने अपने किसी एक अंशमें समस्त जगत्‌को स्थित बताया, इसलिये वे ११।३में अत्यन्त विनम्रतासे कहते हैं—'हे प्रभो! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह ठीक वैसा ही है, मैं भी उसे वैसा ही मानता हूँ, अब मैं आपके उसी रूपको देखना चाहता हूँ (जिसके एक अंशमें समस्त जगत् स्थित है)।' फिर कहते हैं—'यदि आप यह समझते हैं कि मैं उस रूपको देख पानेमें समर्थ हूँ तो उसे (अवश्य) दिखायें (अन्यथा जैसा आप उचित समझें)।' यहाँ वे १०।१६की तरह न बोलकर विनम्रतासे

कहते हैं। यह भाव देखकर कृपालु प्रभु मानो अर्जुनपर न्यौछावर हो जाते हैं और प्रसन्न होकर कहते हैं—'**पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः**' (११ । ५)—हे अर्जुन ! एक रूप तो क्या, तुम मेरे सैकड़ों और हजारों रूपोंको देखो।

उपर्युक्त प्रसङ्गसे यह सिद्ध है कि साधकका भगवदाश्रय, दैन्य और अपनी इच्छाओंका भगवदिच्छाओंमें विलय भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा है। ऐसे साधककी इच्छा पूरी करनेके लिये भगवान् तरसते रहते हैं तथा कभी कोई अवसर मिल जाता है तो अभीष्टसे अत्यधिक सेवा करते हैं।

इस प्रकार ग्यारहवाँ अध्याय भगवदनुग्रहकी स्वीकृतिसे ही आरम्भ हुआ—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

(११ । १)

जब समस्त ब्रह्माण्डोंको ही भगवान्‌ने अपने एक अंशमें धारण किया हुआ बता दिया, तब अर्जुनने भगवान्‌के अनुग्रह और उनके उपदेशकी प्रशंसा की। तभी उनके हृदयमें विश्वरूप-दर्शनके बहाने प्रभुकी विशिष्टतम कृपा प्राप्त करनेकी अभिलाषा जाग्रत् हुई। वे भगवान्‌की प्रशंसा करते हुए यहाँतक कह बैठे कि '**मोहोऽयं विगतो मम**'—मेरा

मोह दूर हो गया। परम कृपालु भगवान् तो जानते थे कि अभी मोह दूर नहीं हुआ, इसीलिये उन्होंने आगे ११।४९ में कहा—**'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः'**। इसमें रहस्य यह है कि अर्जुनने भगवान्का प्रभाव जाना और उसे जानकर ही बोल पड़े कि मेरा मोह दूर हो गया। वास्तवमें साधकको भगवान्के प्रभावका थोड़ा-सा ज्ञान हो जानेपर प्रायः ऐसा ही भान होता है। अर्जुनकी इसी स्थितिको समझकर भगवान्ने कृपापूर्वक कहा—

'हे पार्थ ! तुम मेरे सैकड़ों-हजारों, नाना प्रकारके, नाना वर्ण और आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देखो।' यह है अर्जुनपर विशिष्ट कृपाका एक अन्य उदाहरण ! भगवान्ने अपनी ओरसे ही अपना विराट्-रूप प्रकट किया तो अर्जुन उसे देख नहीं पाये। पाँचवेंसे सातवें श्लोकतक भगवान्ने पाँच बार **'पश्य'** शब्दका प्रयोग किया। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन विराट्-रूप देख ही न सके। उन्हें देखनेमें असमर्थ जानकर ही भगवान्ने हितकी कामनासे उन्हें दिव्य चक्षुओंका दान किया—**'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** (११।८) और तब अर्जुनने विराट्-रूपका दर्शन किया। वह रूप देखनेके बाद जब अर्जुनने भयभीत होकर स्तुति और प्रार्थना की कि मुझे तो फिर वही (चतुर्भुज) रूप दिखाइये, मैं अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाइये (११।४५), तब भगवान्ने कहा—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥
(११।४७)

'हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक (प्रसन्न होकर) ही मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे अपना यह परमतेजोमय, सबका आदि और सीमा-रहित विराट्-रूप तुम्हें दिखाया है, जो कि तुम्हारे सिवाय पहले किसीके द्वारा नहीं देखा गया।'

इस विराट्-रूपमें भगवान्ने अर्जुनकी शङ्का—'**यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः**' अर्थात् युद्धमें हम जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे? (२।६)का भी उत्तर दे दिया। उन्होंने विशेष अनुग्रह करके दिखा दिया कि विकराल दाँतोंवाले एवं अग्निके समान प्रज्वलित उनके मुखमें धृतराष्ट्रके पुत्र, भीष्म, द्रोण आदि सभी समा रहे हैं। इस प्रकार जो मृत्युको प्राप्त नहीं हुए थे, उन्हें भी मृत दिखाकर भगवान्ने अर्जुनको कृपापूर्वक आसन्न-भविष्यका दर्शन करा दिया और सावधान कर दिया कि तुम जो युद्ध नहीं करनेको कहते हो एवं गुरुजनोंकी मृत्युसे डर रहे हो, वे सब तो मरनेवाले ही हैं, चाहे तुम युद्ध करो या न करो। ऐसा कहकर भगवान्ने फिर समझाया—तुम क्षत्रिय-धर्मका पालन करो और विजय प्राप्त करो—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
(११।३३)

यहाँ भगवान्का आशय यही है कि मनुष्यको सदैव अपने कर्तव्य-पालनमें तत्पर रहना चाहिये। फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

भगवान्ने भी जब देखा कि अर्जुन मेरे विराट्-रूपको देखकर डर गये हैं और अब ये अधिक समयतक मेरे इस 'तेज'को सह न सकेंगे, तब कृपालु प्रभु अपने प्यारे सखाके अनुरोधपर पुनः चतुर्भुज रूप हो मुस्कराते हुए बोले—'(सखे) अर्जुन! तुम डरो मत। मोहको प्राप्त न हो। मेरे चतुर्भुज-रूपको फिर देखो।' अर्जुन चतुर्भुज-रूपको देखकर आश्वस्त हुए तो भगवान्ने अपनी विशिष्ट कृपा उद्घाटित की—'हे अर्जुन! मेरा यह चतुर्भुज-रूप देखनेको अति दुर्लभ है। वेद, दान, तप, यज्ञ आदिसे भी यह नहीं देखा जा सकता। यह तो अनन्य-भक्तिसे ही देखा जा सकता है।'

विराट्-रूपका दर्शन कराकर भगवान्ने अर्जुनपर अभूत-पूर्व कृपा की। किसी नाटकमें भी पात्र अपना असली रूप नहीं बताता। यदि वास्तविक रूप प्रकट कर दिया जाय तो अभिनयकी सफलता ही संदिग्ध हो जाय। इसीलिये भगवान्ने अपना विराट्-रूप अनुग्रह करके दोषदृष्टिरहित अनन्य-भक्त अर्जुनको ही दिखाया, अन्य लोगोंको नहीं। आगे बारहवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनके पूछनेपर सगुणोपासना-की श्रेष्ठतापर प्रकाश डाला।

गीताके तीन षट्कोंमें पहला कर्मका, दूसरा भक्तिका और

तीसरा ज्ञानका प्रकरण माना जाता है। वैसे तीनों षट्कोंमें ही कर्म, भक्ति और ज्ञानयोगका वर्णन हुआ है, किंतु अन्तिम षट्कमें जितना ज्ञानका वर्णन है, उससे भी अधिक वर्णन पहले षट्कमें कर्मका हुआ और मध्य षट्कमें तो उपासनाका ही वर्णन सर्वाधिक है। इससे सिद्ध यही होता है कि गीतामें सर्वाधिक वर्णन भक्तियोगका ही हुआ है। बारहवें अध्यायके १९, तेरहवें अध्यायके ३४ और चौदहवें अध्यायके २०—कुल ७३ श्लोकोंमें उपासनाका प्रकरण चला है। इस लम्बे प्रकरणमें केवल भगवान् ही बोलते गये हैं, अर्जुन मात्र श्रोता रहे हैं। इसके पश्चात् अठारहवें अध्याय-के ७१ श्लोक भी दोनों उपासनाओंके वर्णनमें ही कहे गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌को उपासनाविषयक प्रसङ्ग रुचिकर लगता है; क्योंकि उपासना जीवोंका कल्याण करनेमें अत्यन्त सहायक है।

भगवान्‌ने इन श्लोकोंसे ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—दोनोंका ही विवेचन विशदरूपसे किया है। भगवान्‌के इस वर्णनके पीछे उनका यह कृपा-भाव है कि मनुष्यमात्र किसी भी मार्गका अवलम्बन लेकर अपना कल्याण करे।

बारहवें अध्यायमें सगुणोपासनाका विवेचन करनेके पश्चात् भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायमें अव्यक्त अक्षर निर्गुणको जानने और उसकी उपासनाका वर्णन करते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-को भली प्रकार जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बताया। चौदहवें अध्यायमें प्रकृतिके कार्य गुणोंको लेकर मुख्यतः गुणातीतके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके उपाय

बताये और विशिष्ट अनुग्रहके रूपमें यह रहस्य उद्घाटित किया—

> मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
> स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
> (१४ । २६)

'जो अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके द्वारा सदा मुझे भजता है, वह तीनों गुणोंका उल्लङ्घन करके ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित होनेके योग्य होता है।'

पंद्रहवें अध्यायको तो भगवान्‌की महती कृपा ही कहा जा सकता है; क्योंकि एक तो भगवान्‌ने अर्जुनके बिना पूछे ही इसे आरम्भ किया, दूसरे सम्पूर्ण गीतामें एक यही अध्याय ऐसा है, जिसे भगवान्‌ने 'गुह्यतम शास्त्र'की संज्ञा दी है—

> इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
> एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥
> (१५ । २०)

भगवान्‌ने कृपा करके इस अध्यायमें अपना परम गोपनीय प्रभाव भली प्रकारसे कहा है। जो मनुष्य भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेता है, फिर उसका मन एक क्षणके लिये भी भगवच्चिन्तनका त्याग नहीं कर सकता। जब मनुष्य भगवान्‌का प्रभाव भली प्रकार समझ लेता है, तब वह परमात्माकी शरण होकर उनकी कृपासे अन्ततः परमतत्त्वको पा लेता है।

भगवान्‌ने भक्तिके अधिकारी दैवी-सम्पत्तिवाले प्राणियों और आसुरी-सम्पत्तिवाले अनधिकारी लोगोंके लक्षण बतलाते हुए सोलहवें अध्यायमें सूत्ररूपसे यह कृपा-मन्त्र बतलाया कि शास्त्रको प्रमाण मानकर ही कर्तव्य करना श्रेष्ठ है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।'

(१६ । २४)

उपर्युक्त भगवद्वचन सुनकर अर्जुनको यह शङ्का हुई कि शास्त्रविधिको त्यागकर निषिद्ध कर्म करनेवालोंका तो पतन होगा, परंतु शास्त्रविधिरहित श्रद्धापूर्वक 'यजन' करनेवालों-की निष्ठाको क्या कहा जायगा ? तब भगवान्‌ने तीन प्रकार-की श्रद्धा बतलाते हुए कहा कि 'यह पुरुष श्रद्धामय है । इसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही इसका स्वरूप (निष्ठा) समझना चाहिये ।' इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने तीन प्रकारके यजन करनेवालोंका विवेचन किया, परंतु यह शङ्का रह सकती थी कि यदि कोई यजन न करे तो उसके स्वरूपका कैसे पता चलेगा ? इसके समाधानमें भगवान् सबसे पहले तीन प्रकारके आहार और फिर यज्ञ, दान, तप आदि-का विस्तृत वर्णन करते हैं । आहारोंके वर्णनका तात्पर्य सम्भवतः यह है कि यदि कोई यजन, यज्ञ, दान, तप आदि न भी करेगा तो भोजन तो अवश्य ही करेगा । उसकी जैसे भोजनके प्रति प्रियता होगी, वैसा ही उसका स्वरूप समझा जा सकता है । सात्त्विक पुरुषको सात्त्विक भोजन प्रिय

होंगे, इसी प्रकार राजसी-तामसी प्रवृत्तिवालोंको क्रमशः तीखे—दाहक एवं बासी—उच्छिष्ट भोजन।

इस सतरहवें अध्यायमें यह भी बतलाया गया कि सभी क्रियाएँ निष्कामभावसे और सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्मरण-के साथ ही सम्पन्न की जानी चाहिये—

'ॐ तत्सदिति निर्देशः' (१७ । २३)

भगवान्‌ने 'ॐ तत् सत्' ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम बताया और कृपा करके यह कहा कि 'यदि किसीके यज्ञ, दान, तप आदि प्रयासमें कोई कमी (अङ्ग-वैगुण्य) रह जाय तो उसे मैं अपने नामसे पूरा कर दूँगा।' अर्थात् मुक्तिकी चाहना करनेवाला साधक सारे कर्मोंको सच्चिदानन्दघन परब्रह्मके प्रति समर्पित कर दे।

भगवान्‌के लिये जो साधारण-से-साधारण कर्म किया जाता है, वह भी 'सत्' कहा जाता है (सत् अर्थात् जिसकी सत्ता है, जो श्रेष्ठ है, प्रशंसनीय है; यज्ञ, दान और तपमें निष्ठा तथा परमात्माके निमित्त जो कुछ भी किया जाय, वह सभी सत् है)। इस प्रसङ्गमें साधारण-से-साधारण श्रेणी-के कर्मोंको भी भगवान्‌को अर्पित कर परमफलदायक बनाने-की विधि बतलायी गयी।

अठारहवें अध्यायमें अर्जुनने दो निष्ठाएँ—सांख्य-निष्ठा और कर्म-निष्ठाको पृथक्-पृथक् जाननेके लिये प्रश्न किया है। अर्जुनको सुगमतापूर्वक इस तत्त्वका ज्ञान करानेके लिये भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें दो निष्ठाओंको पाँच प्रकरणोंमें विभाजित किया—

(१) २–१२ श्लोकतक कर्मप्रधान कर्मयोग।

(२) १३–४० श्लोकतक विचारप्रधान सांख्ययोग।

(३) ४१–४८ श्लोकतक भक्तिमिश्रित कर्मयोग।

(४) ४९–५५ श्लोकतक उपासनासहित सांख्ययोग।

(५) ५६–६६ श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोग।

(इससे आगे अठहत्तरवें श्लोकतक श्रीगीताजीका माहात्म्य है।)

उपर्युक्त प्रकरणोंमेंसे अन्तिम प्रकरण गीताभरमें विशेष कृपाका द्योतक एवं महत्वपूर्ण है। इससे पहले प्रकरणमें भगवान्‌ने पराभक्तिकी प्राप्तिके विषयमें कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५४-५५)

'वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। सब भूतोंमें समभाव हुआ वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है और उस पराभक्तिके द्वारा मुझे तत्त्वसे भली प्रकार जान लेता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा मुझे तत्त्वसे जानकर वह मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् तद्रूप हो जाता है।'

यहाँ एक रहस्यकी बात यह समझनी चाहिये कि

सांख्य-निष्ठाद्वारा भगवान्‌को वैसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, जैसे अनन्य-भक्तिद्वारा। भगवान् स्वयं कह चुके हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

अविनाशी पद तो केवल कृपासे ही प्राप्त हो सकता है। (ज्ञानमार्गमें 'द्रष्टुम्' अर्थात् दर्शन देना आवश्यक नहीं। यह भक्तिमार्गमें ही सुलभ है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ज्ञानमार्गके प्रकरणमें 'ज्ञात्वा' और 'विशते' पदोंका ही प्रयोग किया गया है।) अर्जुनके बिना पूछे ही भगवान्‌ने कृपाभिभूत होकर बतलाया—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८।५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको[५] करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन, अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

---

५. 'सम्पूर्ण कर्मों'से तीनों प्रकारके कर्मोंका भाव लेना चाहिये। शास्त्रीय कर्म--यज्ञदान-तप, जीवकोपार्जनसम्बन्धी कर्म—वर्णाश्रम-के अनुसार करने योग्य कर्म तथा शरीर-निर्वाह सम्बन्धी कर्म—खानपान-व्यवहार आदि।

इसके विपरीत सांख्यनिष्ठा (श्लोक ५१ से ५५)में कितनी कठिनता है—'विशुद्ध बुद्धियुक्त, एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, मिताहारी, जीते हुए मन-वाणी-शरीरवाला, दृढ़ वैराग्यको प्राप्त, निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ, सात्त्विक धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके तथा शब्दादिक विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषको नष्ट करके एवं अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर ममता-रहित और शान्त-अन्तःकरण हुआ (वह मुमुक्षु) सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है।'

सांख्ययोग जहाँ क्लेशयुक्त है, वहाँ इसी अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने कृपाकी अनुभूतिका सरल सिद्धान्त बता दिया; वह यह कि केवल प्रभुका आश्रय लेनेसे ही साधकको अविनाशी परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

साधकको दो बातोंका विशेष ध्यान रखना होता है। एक तो भगवत्प्राप्तिके साधनमें संलग्नता, दूसरे इस मार्गके विघ्नोंसे बचना। भगवान् अपने भक्तके लिये दोनों ही बातें अपनी कृपासे सिद्ध कराते हैं—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥**' (१८। ५६) मेरी कृपासे परमपद प्राप्त करेगा और—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**' (१८।५८) मेरी कृपासे समस्त विघ्नोंको पार कर जायगा। भगवान्ने कृपा कर विघ्नोंको दूर करनेका भी सरल उपाय निर्दिष्ट

कर दिया। वे कहते हैं—'अर्जुन ! सब कर्मोंको चित्त से मेरे अर्पण करो—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(१८। ५७)

[६]बुद्धियोगद्वारा तुम मेरे आश्रित हो जाओ। मेरे सिवा तुम्हारी दृष्टिमें और कुछ होना ही नहीं चाहिये अर्थात् साधककी दृष्टि उत्तम पतिव्रता नारी-जैसी होनी चाहिये—

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
(मानस ३। ५। १२)

इतनी बातें कहनेपर भी जब अर्जुनको चुप देखा तो भगवान्‌ने अर्जुनको फटकारा (जिसपर अत्यन्य कृपा होती है, उसे ही फटकारा भी जाता है) कि 'यदि अहंकारके वश हो तुम मेरे वचनोंको नहीं सुनोगे तो परमार्थसे भ्रष्ट हो जाओगे'—

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८। ५८)

भगवान्‌के ऐसा कहनेमें भी एक प्रयोजन था, पहले तो अर्जुन भगवान्‌की शरणमें आये—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां**

---

६. 'समत्वं योग उच्यते।' (२। ४८)

प्रपन्नम्' (२ । ७)—फिर 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (२ । ९) 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', ऐसा स्पष्ट कहकर चुप हो गये। भगवान्‌को उनकी यह बात खटक गयी थी, अतः वे उसे भूले नहीं। चूँकि उनके हृदयमें कृपाका भाव था, इसीलिये उन्होंने कहा—'तुम यदि अहंकारवश ऐसा मानते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तुम्हें बलात् युद्धमें लगा देगा—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(१८ । ५९)

भगवान्‌का यह वचन आत्मीयतासे भरा है, अतः अत्यन्त कृपापूर्ण है। अहंकारसे साधकका पतन हो जाता है। ऊँची-से-ऊँची स्थितिमें पहुँचे हुए साधकमें भी सूक्ष्म अहंकार रह सकता है। यह केवल भगवान्‌की कृपासे ही मिटता है, अन्य कोई उपाय इसे मिटानेका नहीं है। [सूक्ष्म-वासना भी भगवत्कृपासे ही मिटती है, उदाहरणार्थ—भक्त प्रह्लादमें कोई स्थूल कामना नहीं थी; फिर भी उन्होंने भगवान्‌से यह वरदान माँगा कि 'यदि मुझमें कोई कामना हो तो वह मिट जाय।' इसके पश्चात् भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहकर जब और वर माँगनेको कहा, तब (ऊँची स्थितिमें पहुँचकर भी सूक्ष्म-वासना शेष रहनेके कारण) उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि 'मेरे पिताका कल्याण हो।']

भगवान् जानते हैं कि अर्जुनका मोह अभी पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। इसीलिये वे कहते हैं—

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
(१८। ६०)

'अर्जुन! जिस कर्मको तुम मोहवश नहीं करना चाहते, उसे भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधे हुए परवश होकर करोगे।'

इतना सुनकर भी जब अर्जुन चुप हो रहे अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेके लिये तैयार नहीं हुए, तब भगवान्‌ने कृपा करके कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे (उनके) कर्मोंके अनुसार भ्रमाते हुए सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं, इसलिये हे भारत! सब प्रकारसे उन परमात्माकी अनन्य-शरण हो जाओ। उन परमात्माकी कृपासे तुम परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होओगे।' (१८। ६१-६२)

फिर भी अर्जुन नहीं बोले, तब भगवान्‌ने कहा—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥
(१८। ६३)

यह सुनकर अर्जुन घबरा गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान्—'जैसा चाहे करो' कहकर तो मेरा त्याग कर रहे हैं।' अर्जुनकी यह स्थिति देखकर कृपामूर्ति भगवान्‌ने

कहा—'मैं तुम्हें गोपनीय-से-गोपनीय बात बता चुका, फिर भी तुम्हें अब सबसे गोपनीय बात बतलाता हूँ—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८। ६४-६५)

अब यहाँ भगवान्‌के शब्दोंमें कुछ साम्य बताना आवश्यक है; क्योंकि इसमें भी उनकी कृपाका भाव ही परिलक्षित है, भगवान्‌ने दसवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें कहा था—

'भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।'

अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें कहा—

'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।'

वहाँ कहा है—'वक्ष्यामि हितकाम्यया' और यहाँ कहा है—'वक्ष्यामि ते हितम्'; इससे सिद्ध है कि भगवान् अर्जुनको गुह्यतम और परम वचन केवल उनके हितकी कामनासे ही कहते हैं। 'भूयः'का अर्थ है 'फिर कहता हूँ' जो बात कल्याणकारी है, उसे भगवान् अनुग्रह करके बार-बार कहते हैं, देखिये—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
(९। ३४)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
(१०।९)

(१८।६५ में) फिर अक्षरशः वही बात कही—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

कैसी अलौकिक रीति है भगवान्‌की ! सबको तो उपदेश देते हैं कि कामना न रखो [**विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।** (२।७१)] और स्वयं भक्तके हितकी कामना करते हैं। अस्तु, शङ्का हो सकती है कि (९।३४ और १८।६५)—दोनों स्थानोंपर भगवान्‌ने एक ही बात क्यों कही ? इसका उत्तर यह है कि नवें अध्यायमें उन्होंने सामान्य साधकके हितकी दृष्टिसे उपदेश किया है और अठारहवें अध्यायमें विशेषतः अर्जुनपर अपनापन प्रदर्शित करते हुए (व्यक्तिगतरूपसे) उन्हें 'आज्ञा दी हैं—'नित्य-निरन्तर मुझमें ही अचल मनवाला होकर अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे मेरे नाम, गुण, प्रभावका कीर्तन, श्रवण, मनन, पठन-पाठन करनेवाला हो।'

भगवान्‌की कृपाका मानो अजस्र स्रोत उमड़ रहा है। इसलिये वे फिर भी कहते हैं—'अर्जुन ! तुम मेरे अत्यन्त प्यारे हो, इसलिये सत्य-प्रतिज्ञा करता हूँ कि उपर्युक्त साधनसे तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।' '**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥**' (१८।६५) भगवान्‌ने पहले अर्जुनको फटकारा और फिर कृपापूर्वक सत्य-प्रतिज्ञा की तथा आश्वासन दिया कि 'तुम चिन्ता मत करो, सब कुछ छोड़-

कर, सारे धर्मोंका आश्रय त्यागकर केवल मेरी शरणमें आ जाओ। अनन्यशरणमें आते ही मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा[७]।'—

---

७. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

पापोंसे मुक्त करनेकी बात यहाँ क्यों कही? इसका रहस्य यह है कि अर्जुनने पहले कहा—'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।' (१। ३६) अर्थात् इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा। फिर कहा—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२। ७) जो मेरे लिये निश्चित कल्याणकी बात हो वही कहिये। इसके बाद पुनः उन्होंने दोहराया—'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥' (३। २); मुझे निश्चित श्रेयकी बात बतलाइये और चौथी बार भी अर्जुनने यही पूछा—'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥' (५। १) निश्चित श्रेयका मार्ग ही मुझे बतायें। भगवान्‌ने उन्हें कृपा करके बताया कि क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर कल्याणका कार्य दूसरा कुछ है ही नहीं—'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।' (२। ३१) और यदि तुमने युद्ध नहीं किया तो पापको प्राप्त होओगे—'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥' (२। ३३) इसलिये 'ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥' (२। ३८) जय-पराजयको समान समझकर तुम युद्धके लिये तैयार हो जाओ, इस प्रकार

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ।
नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥
(मानस १।८८।३)

भगवान्‌का यह मृदुल स्वभाव कृपावश अब और भी कोमल हो गया। उन्होंने कहा—'हे अर्जुन! इस प्रकार तुम्हारे हितके लिये कहे हुए इस गीतारूप परम रहस्यको किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना, न भक्तिहीन मनुष्यके प्रति कहना, न मेरी निन्दा करनेवालेसे कहना, न उसके प्रति ही कहना, जो इसे सुननेकी इच्छासे रहित हो; परंतु जिनमें ये सब दोष न हों, ऐसे भक्तोंके प्रति प्रेमपूर्वक उत्साहसे कहना'—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
(१८।६७)

युद्ध करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। भगवान्‌का आशय है कि हानि-लाभमें सम हो, संसारका आश्रय न लेकर केवल मेरी शरण होनेसे तुम जन्म-जन्मान्तरोंके पापसे छूट जाओगे।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य'में भगवान्‌का भाव स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेका नहीं है। अर्जुन 'धर्मसम्मूढचेताः' हैं और भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहते हैं। यदि स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करते तो युद्ध क्यों करते? उन्होंने तो युद्ध किया है। इसीलिये भगवान्‌ने उनसे कहा कि 'चित्तसे कर्म मेरे अर्पण कर दो, मेरी अनन्य शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

भगवान्‌ने पैंसठवें और छाछठवें—दो श्लोकोंमें जो कहा, वह मानो रत्नजटित मञ्जूषामें छिपा हुआ बहुमूल्य रत्न ही है। ऐसी बहुमूल्य निधि तो कृपा करके अपने आत्मीयको ही दी जा सकती है।

भगवान्‌ने यहाँ कहा है कि यह रहस्य भक्तोंके अतिरिक्त अन्य लोगोंको न बताया जाय। इसपर शङ्का हो सकती है कि तब भगवान्‌द्वारा सबपर समानरूपसे कृपा किये जानेकी बात कैसे घटती है? वस्तुतः इस निषेधमें भी भगवान्‌की कृपा ही है; क्योंकि जो लोग भगवान्‌के प्रति दोषदृष्टि रखते हैं, श्रद्धालु नहीं हैं, वे यदि 'मेरी शरणमें आ, मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो' आदि बातोंको लेकर मेरी निन्दा करेंगे तो पापके भागी होंगे। अतः ऐसे व्यक्तियोंको न सुनानेमें भी उनपर कृपा करनेका ही भाव है। **'नातपस्काय'**—ऐसे व्यक्ति जो संयमी नहीं हैं, संसारमें आसक्त हैं, भोग-संग्रहमें लगे हैं, उन्हें सुनानेका निषेध भी उपर्युक्त भावसे किया गया कि वे भगवन्निन्दा करके और पतनको प्राप्त न हों, दोष-दृष्टि होनेसे पतन होगा ही। यदि उनमें सुननेकी इच्छा होगी तो सहज ही उनका कल्याण हो जायगा; क्योंकि सुननेसे श्रद्धा उत्पन्न होगी, प्रेम होगा और फिर भजन होगा। इस प्रकार भक्तिका उदय होनेसे कल्याण हो जायगा। फिर भी यहाँ निषेध विशेषकर भगवान्‌के प्रभाव, नाम, गुण, कीर्तन आदि विषयोंसे सम्बन्धित श्लोक सुनानेके सम्बन्धमें ही समझना चाहिये, अन्य श्लोकोंके सम्बन्धमें नहीं; शेष गीता सुनानेसे तो अश्रद्धालुमें भी कर्म-

योगादि साधनोंके प्रति रुचि जाग सकती है और उसका कल्याण हो सकता है।

'गीताको जो मेरे भक्तोंमें निष्कामभावसे कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा और उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला भूमण्डलपर अन्य कोई नहीं है और न भविष्यमें कोई होगा।' कैसी कृपामयी वाणी है भगवान्‌की—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८। ६८-६९)

कहनेका तात्पर्य यह है कि गीताके प्रचारमें मान, बड़ाई, धन, यश आदि प्राप्त करनेका अर्थात् सांसारिक महत्त्वका उद्देश्य नहीं होना चाहिये। यदि निष्कामभावसे इसका प्रचार किया जायगा तो भगवान् कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देंगे। जो प्रचार करनेमें असमर्थ है, वह इसका अध्ययन ही करे। भगवान् उसपर भी कृपा करेंगे। वे कहते हैं— 'गीताका अध्ययन करनेवाला जाने अथवा न जाने, पर मैं तो उसके द्वारा ज्ञान-यज्ञसे पूजित हो ही जाऊँगा।' भगवान्‌ने आगे और भी कृपा की, उन्होंने कहा—अध्ययनशील ही नहीं, सुननेवाला भी शुभ लोकोंको प्राप्त होगा।

'सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥'

(१८। ७१)

ऐसी अकारण कृपा भगवान्‌के अतिरिक्त और कौन कर सकता है !

इतना सब सुननेके बाद भगवान्‌ने पूछा—'अर्जुन ! क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर मेरा वचन सुना ? और तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हुआ ?'—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

(१८ । ७२)

तो अर्जुनने भगवान्‌के दो प्रश्नोंका एक ही उत्तर दिया—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

(१८ । ७३)

'महाराज ! उपदेश सुननेसे नहीं, आपकी कृपासे मोह दूर हुआ ।' सुननेसे मोह दूर होता तो (अर्जुनद्वारा) अपनी बुद्धिका बल बखाननेमें आता । भगवत्कृपासे दूर हुआ है, इसका अर्थ हुआ—भगवान्‌के कृपा-बलसे मोह दूर हुआ; क्योंकि शरणागत शरीर, मन आदिके सहित प्रभुके समर्पित होता है; अतः उसे किसी प्रकारकी विशेषताका अभिमान अपनेमें हो ही नहीं सकता । यही पूर्ण शरणागति है ।

भगवान्‌के वचन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर सुने हैं । इसका प्रमाण उन्होंने 'स्मृतिर्लब्धा' पदसे दिया । दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा था—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(२।६३)

क्रोधसे मूढ-भाव (सम्मोह) होता है, जिससे स्मरण-शक्ति (स्मृति) भ्रमित होती है—इसलिये यहाँ अर्जुनने लगभग वे ही शब्द प्रयोग किये हैं—'**नष्टो मोहः**', '**स्मृतिर्लब्धा**', '**स्थितोऽस्मि**' और '**गतसंदेहः**' अर्थात् मेरा मूढ़भाव (सम्मोह) नष्ट हो गया और (स्मृतिविभ्रम) 'भ्रमिता स्मृति'के स्थानपर (अनन्त जन्मोंसे खोयी हुई) ध्रुवा स्मृति प्राप्त हो गयी है। ये पद प्रयोग कर अर्जुनने दिखा दिया कि उन्होंने गीता केवल ध्यानसे सुनी ही नहीं, अपितु उन्हें वह अक्षरशः याद भी है। यहाँ यह बात भी द्रष्टव्य है कि भगवान्ने गीतामें '**मत्परः**' पदका सर्वप्रथम २।६१में ही प्रयोग किया, इससे पहलेके १०७ श्लोकोंमें 'मेरे परायण हो' ऐसा कहीं नहीं कहा। यहाँ मोह नष्ट होना बताकर अर्जुन कहते हैं—'मैं अब संदेहमुक्त होकर आपके आज्ञा-पालनके लिये तत्पर (स्थित) हूँ (१८।७३)।' ऐसा कहनेके साथ ही गीताका उपदेश समाप्त हो जाता है। भगवान् इसके बाद नहीं बोलते; क्योंकि अब उनका उद्देश्य पूरा हो चुका है।

भगवान्ने १५।७ में कहा था—'जीव मेरा ही अंश है'—'**ममैवांशो जीवलोके।**' अर्जुन अब भगवान्की ही शरणमें हैं, यही खोयी हुई चीज, भूली हुई वस्तु—'मैं

भगवान्‌का अंश हूँ'—रूपा स्मृति अर्जुनको मिल गयी। भूल मिटी तो कैसे ? 'त्वत्प्रासादात्' आपकी कृपासे। इस प्रकार भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया।

अर्जुनके निमित्तसे भगवान्‌ने जीवमात्रपर कृपा की। गीतामृतका अक्षय भण्डार दिया और पहले मुक्त हुए अनन्त जीवोंके अतिरिक्त भविष्यमें आनेवाले कोटि-कोटि जीवोंके कल्याणका मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। वस्तुतः गीता-कृपार्णवमें मनुष्य जितना-जितना गहरा उतरता जायगा, उत्तरोत्तर उसे अधिकाधिक मूल्यवान् कृपा-रत्न मिलते जायँगे, मिलते ही जायँगे। न इसकी गहराईका अन्त आयेगा और न रत्नोंकी संख्या और मूल्यका !







मनुष्यमें स्वभावसे ही कर्म करनेका एक वेग विद्यमान रहता है। हठपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करने अथवा अपने लिये कर्म करनेपर वह वेग शान्त नहीं होता। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हित-के लिये कर्म करनेपर ही वह वेग शान्त हो सकता है। इस दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान करना सभीके लिये आवश्यक और सुगम है।

—इसी पुस्तकसे